हिन्दी त्रैमासिक

विवेक ज्योति

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी – फरवरी – मार्च

★ १९७० ★

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक ● स्वामी प्रणवानन्द

सह-सम्पादक ● सन्तोष कुमार झा

वार्षिक ४) वर्ष ८ अंक १ एक प्रति १)

फोन : १०४६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

कव्हर चित्र परिचय – स्वामी विवेकानन्द

(सहस्रद्वीपोद्यान, अमेरिका, जुलाई १८९५)

विवेक मुद्रणालय, महाल, नागपुर २.

पाठकों से निवेदन

भगवान् की असीम अनुकम्पा से विवेक-ज्योति अपने गौरवशाली आठवें वर्ष में पदार्पण कर रही है। इस अवसर पर हम अपने समस्त ग्राहकों को उनके सहयोग के लिए हार्दिक धन्यवाद देते हुए उनके प्रति नूतन वर्ष हेतु शुभकामनाएँ करते हैं।

आपको विदित है कि गत तीन-चार वर्षों से कागज का मूल्य एवं छपाई का दाम निरन्तर बढ़ता जा रहा है। अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने अपने दाम बढ़ा दिये हैं। पर हमने अभी तक सर्वसामान्य पाठकों की सुविधा का ख्याल रख, विवेक-ज्योति का शुल्क वही रखा है। एतदर्थ हमें पर्याप्त आर्थिक कठिनाई का सामना भी करना पड़ रहा है। यदि हमारे सहृदय पाठक कुछ नये ग्राहक बनाकर भेज सकें तो हमारी कठिनाई कुछ मात्रा में दूर हो सकती है। अतएव पत्रिका के नव वर्ष-पदार्पण पर हम अपने प्रत्येक स्नेही पाठक-पाठिका से साग्रह निवेदन करते हैं कि वे विवेक-ज्योति के कम से कम दो वार्षिक सदस्य बनाकर, सत्साहित्य के प्रचार में हमें सहयोग प्रदान करें।

हम आपकी सुविधा के लिए एक व्यापारिक जवाबी कार्ड साथ में संलग्न कर रहे हैं। आप इस पर नये ग्राहकों का नाम और पता लिखकर बिना टिकट लगाये, हमें यथाशीघ्र भेजने की कृपा करें।

धन्यवाद !

व्यवस्थापक,
'विवेक-ज्योति'

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ८] जनवरी–फरवरी–मार्च [अंक १

वार्षिक शुल्क ४) ★ १९७० ★ एक प्रति का १)

महानतम आश्चर्य !

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् ।

शेषाः स्थिरत्वमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।।

--दिन-प्रतिदिन जीव मृत्यु के कराल गाल में समाते जा रहे हैं, तथापि जो लोग जीवित हैं वे सोचते हैं कि हम नहीं मरेंगे । इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या है !

--यक्षप्रश्न, महाभारत ।

मरने की चाह ?

किसी गाँव में एक लकड़हारा रहता था। बड़ी कठिनाई से वह जीवन-यापन कर पाता। मुँह-अँधेरे उठकर वह जंगल चला जाता, दोपहर तक लकड़ी काटता और गट्ठर बाँधकर बाजार ले आता। इस प्रकार मुश्किल से परिवार के लोगों को एक जून का अन्न मयस्सर हो पाता। लकड़हारे की स्त्री कर्कशा थी। पति इतना खटकर रात को घर लौटता, पर उससे दो सहानुभूति के शब्द कहना तो दूर, पत्नी हरदम तुनककर ही बातें करती और पति के निखट्टूपन पर ताने मारती रहती। लकड़हारे का जी घर-परिवार से भर गया। पर क्या करे ? घर में छोटे छोटे बच्चे जो थे। उनका मोह उसे घर छोड़कर जाने न देता।

एक दिन रात में किसी बात पर लकड़हारे और उसकी पत्नी में कहा-सुनी हो गयी। दूसरे दिन बड़े बेमन से लकड़हारा जंगल गया। हरदम के समान लकड़ियाँ काटीं और मनाने लगा कि मुझे मौत ले जाय। मन ही मन वह कुढ़ने लगा कि ऐसी जिन्दगी से मौत भली और ईश्वर से अपने को इस दुनिया से उठा ले जाने की प्रार्थना करने लगा।

जेठ के दिन थे। तपती हुई दुपहरी। आकाश, धरती सभी मानो तप्त-त्रस्त थे। लकड़हारा प्रतिदिन के समान सिर पर लकड़ी का गट्ठर लाद शहर की ओर आ रहा

था। रास्ते में सेठ की हवेली मिलती थी। उसने देखा कि हवेली में कुहराम मचा हुआ है और बाहर सड़क तक लोगों की भीड़ लगी हुई है। पूछने पर मालूम हुआ कि सेठ का इकलौता लड़का कच्ची उम्र में चल बसा है।

लकड़हारा उस हवेली को पार कर आगे बढ़ा और ईश्वर को कोसते हुए कहने लगा, 'तुम कैसे अन्यायी हो ? जिसको मरना नहीं है उसे मारकर ले जाते हो और हम-जैसे लोग मरने की चाह करते हैं तो उसे पूरा नहीं करते !' लकड़हारा पसीने से लथ-पथ हो रहा था। प्यास के मारे उसका कण्ठ सूखा जा रहा था। रास्ते में ही उसने सिर का बोझा एक ओर पटक दिया और एक वृक्ष की छाँह-तले सुस्ताने लगा और मौत को याद करने लगा।

थोड़ी देर में उसने देखा कि सड़क पर एक विशालकाय पुरुष चला आ रहा है। उसका रंग काला है और आँखें लाल-लाल। एक लम्बा सा डण्डा हाथ में लिये हुए है। उस व्यक्ति को देखते ही जाने क्यों लकड़हारे के शरीर में सिहरन फैल गयी। वह आगन्तुक लकड़हारे की ही ओर टकटकी लगाकर देख रहा था। इससे लकड़हारे को और भी डर लगने लगा और वह मनाने लगा कि आगन्तुक सामने से होकर शीघ्र निकल जाये।

पर वह पुरुष ठीक उसी के सामने आकर खड़ा हो गया और लाठी को जोरों से जमीन पर ठोकते हुए बोला, 'कहो, तुम क्यों मेरी याद कर रहे थे ?' लकड़हारा सिट-पिटाकर बोला, 'नहीं-नहीं, मैंने कभी आपकी याद नहीं की।

मैं तो आपको पहचानता तक नहीं हूँ ।' 'क्यों ?' वह पुरुष गरजकर बोला, 'अभी तो कुछ देर पहले तुम मना रहे थे कि मौत मुझे आकर ले जाय और ईश्वर को कोस रहे थे कि तुम्हारी मरने की चाह को वह पूरा नहीं कर रहा है ! मैं मौत हूँ । कहो, क्या कहना है ?'

अब तो लकड़हारे की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गयी । सामने मौत को खड़ा देख उसकी बोलती बन्द हो गयी । किसी प्रकार हकलाकर वह बोला, 'बात यह है कि मेरा यह बोझा बहुत भारी है । अकेले इसे सिर पर उठाना कठिन है। रास्ते में कोई दिखायी भी नहीं दे रहा है जिससे कहूँ कि बोझे में जरा हाथ लगा दे। बस इसीलिये आपको याद की थी । बड़ी कृपा की कि आप आये । जरा यह गट्ठर मेरे सिर पर रखने में सहायता कर दें ।'

कालपुरुष जोरों से हँसा और गट्ठर लकड़हारे के सिर पर रखकर चला गया ।

कथा का मर्म यह है कि लोग ऊपर से तो मौत की चाह करते हैं, पर जब मृत्यु सामने आकर खड़ी होती है तो कोई उसके वश होना नहीं चाहता। प्राणियों में जिजीविषा यानी जीने की इच्छा बड़ी प्रबल है । कोई कितना भी दुःखी क्यों न हो और बारम्बार क्यों न कहता हो कि ईश्वर, मुझे उठा लो; पर जब सचमुच मौत आती है तो हमारी मरने की चाह खतम हो जाती है ।

●

धार्मिक अनुष्ठानों का महत्व

स्वामी प्रभवानन्द

(स्वामी प्रभवानन्दजी वेदान्त सोसायटी ऑफ सदर्न कैलिफोर्निया, अमेरिका के संस्थापक-अध्यक्ष हैं। प्रस्तुत व्याख्यान उन्होंने अक्तूबर १९६७ में रामकृष्ण मठ एवं मिशन के हालीवुड एवं सान्ता बारबरा केन्द्रों में दिया था। यह लेख अंग्रेजी पत्रिका 'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार गृहीत हुआ है।)

मैं अपनी चर्चा का प्रारम्भ हिन्दू पुराणों से एक कहानी बतलाते हुए करूँ। वह एक महत्त्वपूर्ण आख्यान है। जगदम्बा पार्वती के दो पुत्र थे—कार्तिक और गणेश। यह ठीक है कि हममें से प्रत्येक उस जगन्माता की सन्तान है। परन्तु कार्तिक और गणेश मानो मनुष्य के दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कार्तिक बहिर्मुखी और युद्धप्रिय हैं; वास्तव में उन्हें योद्धाओं के देवता के रूप में जाना जाता है। गणेश अन्तर्मुखी स्वभाव के हैं और अहर्निश जगदम्बा के ध्यान में डूबे रहते हैं।

एक दिन जगदम्बा ने अपने इन दोनों पुत्रों को बुलवाकर उनके सामने एक कीमती गलहार रखा और उनसे कहा "तुममें से जो भी समस्त विश्व का चक्कर लगाकर पहले वापस आ जायगा, वही इस हार का अधिकारी होगा।" कहा जाता है कि कार्तिक का वाहन मयूर था और गणेश का, एक छोटा सा चूहा। यदि आधुनिक ढंग का दृष्टान्त देना चाहें तो कह लें कि कार्तिक के

पास जेट विमान था और गणेश के पास बैलगाड़ी। कार्तिक को पूरा विश्वास था कि पुरस्कार उन्हीं को मिलेगा। फिर भी वे अवसर खोना नहीं चाहते थे। इसलिए वे तुरन्त अपने विमान में बैठे और यात्रा प्रारम्भ कर दी। परन्तु गणेश अन्तर्मुखी हो वैसे के वैसे ही बैठे रहे। थोड़ी देर बाद वे उठे और जगदम्बा की परिक्रमा कर उन्हें प्रणिपात किया। इस पर जगन्माता ने मुस्कराते हुए वह गलहार गणेश को दे दिया।

इधर जब लम्बी यात्रा से थके-माँदे कार्तिक लौटे, तो उन्होंने बड़े अचरज से देखा कि वह गलहार भाई के गले में झूल रहा है। भाई को विस्मित देखकर गणेश ने कहा, "बात यह है कि माता में ही समूचा विश्व समाया हुआ है। बस, मुझे उन्हीं की प्रदक्षिणा करनी पड़ी!"

मैं पहले कह चुका हूँ कि ये दो भाई दो प्रकार की मानसिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। क्रियाशीलता और ध्यान की ये दो विरोधी शक्तियाँ हममें से प्रत्येक के अन्दर विद्यमान हैं। हमारा मन ईश्वर के ध्यान द्वारा अक्षय आनन्द और शाश्वत जीवन को प्राप्त करना चाहता है, पर साथ ही संसार के विषयों की ओर भी उसका झुकाव बना रहता है। हम ज्ञान पाना चाहते हैं, सत्ता पर अधिकार करना चाहते हैं, और इन्द्रियों के द्वारा सुख को हासिल करना चाहते हैं। इसके बावजूद हमें एक अभाव का बोध होता है। ज्ञान या सत्ता पाने की कोशिश करना अथवा प्रकृति पर

आधिपत्य प्राप्त करने का प्रयत्न करना कोई गलत बात नहीं है। मैं वैज्ञानिक उपलब्धियों का विरोध नहीं करता। मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि उतना ही मनुष्य के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि अन्त में हम यह समझने लगते हैं कि हमारे भीतर ज्ञान का अक्षय भाण्डार भरा हुआ है, साक्षात् जगन्माता ही हमारे अन्दर विराज रही हैं और एक दिन हमें यह भी अनुभव होता है कि हम नित्य ही ब्रह्म से अभिन्न हैं।

उपनिषद् में एक प्रश्न पूछा गया है--'कस्मिन्नु विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति इति ?'--किसे जान लेने पर सब कुछ का जानना हो जाता है ? जैसे मिट्टी के एक लोंदे को जान लेने पर जो कुछ मिट्टी का बना है उस सबका ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार वह ज्ञान कौनसा है जिसे पा लेने से सब कुछ का ज्ञान हो जाता है ? उपनिषद् के ऋषि इसका उत्तर देते हुए कहते हैं--'तमेवैकं जानथ आत्मानम् अन्या वाचो विमुंचथ'-- 'उसी एक आत्मा को जानो, अन्य वृथा बातें छोड़ दो।' यह दर्शाता है कि यदि हम प्रवेश कर सकें, तो अपने ही भीतर हमें अक्षय आनन्द और शाश्वत मुक्ति का खजाना जगदम्बा की कृपा से प्राप्त हो जायगा।

हममें से प्रत्येक में वह दैवी स्वभाव निहित है, फिर भी हममें अपने से बाहर जाने की प्रवृत्ति हरदम कार्य करती रहती है। ईश्वर के लिए खोज करते समय भी यह बात लागू होती है, क्योंकि आप अन्ततोगत्वा देखेंगे कि

जब तक आप ईश्वर की खोज मन्दिर या गिरजे या ग्रन्थों में करते हैं तब तक शान्ति नहीं मिलेगी। ये सब चीजें हमें भीतर जाने की प्रेरणा मात्र देती हैं, जिससे हम अपने हृदय में प्रवेश कर उस खजाने को पा सकें। वे अपने आपमें हमारा लक्ष्य नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण दृष्टान्त दिया करते थे कि दूध में मक्खन तो है, पर 'मक्खन-मक्खन' कहने से दूध में से मक्खन नहीं निकल जायगा; दूध को मथना होगा, तब कहीं मक्खन हाथ लगेगा। शंकराचार्य कहते हैं, "हमारे भीतर गड़ा हुआ खजाना है। पर यदि तुम केवल कहते रहो, 'ऐ खजाने, निकल आओ', तो उससे खजाना निकल नहीं आयेगा। तुम्हें कुदाल लेकर खजाने को खोद निकालना होगा।" इसी प्रकार हमें भी साधनाओं का अभ्यास करना पड़ता है। मन्दिर और गिरजे, पोथी और गुरु केवल इतना ही बतलाते हैं कि उस खजाने को पाने के लिए अपने भीतर खुदाई कैसे की जाय। पर खोदने का काम तो स्वयं ही करना पड़ता है।

मैं कह चुका हूँ कि ईश्वर का राज्य हमारे अपने भीतर है। वही आत्मा है और यह आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है। सर्वत्र, सभी धर्मों में इस सत्य की घोषणा हुई है। ईसा ने कहा, "ईश्वर का राज्य भीतर है"; फिर कहा, "पहले तो ईश्वर का राज्य खोजो।" वेदान्त की वाणी है–– "तुम ब्रह्म हो––तत्त्वमसि।" आखिर इस सबका मतलब क्या है? यह 'तुम', यह 'मैं', जो

हमें अपने अलग व्यक्तित्व का आभास देता है, वस्तुतः छाया मात्र है। उसमें कोई सत्यता नहीं। वह हमारे भीतर विराजमान आत्मा या ब्रह्म की परछाईं मात्र है। यह आत्मा या ब्रह्म ही वास्तविक 'तुम' है। यदि तुम अपने यथार्थ स्वरूप को जानना चाहते हो तो पहले अपने अहंकार को उस परमात्मा के प्रति समर्पित कर दो। उस परमात्मा को ईश्वर कह लो या ब्रह्म, या अन्य किसी नाम से उन्हें पुकार लो, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। महत्त्व की बात है उनके प्रति समर्पण। आप जानते हैं कि विश्व के अधिकांश धर्म ईश्वर को प्यार करने की पहली सीढ़ी यह बताते हैं कि उनके प्रति समर्पित हो जाओ, उनमें शरण ले लो। उदाहरणार्थ, बाइबिल में हम पढ़ते हैं कि "अपने स्वामी परमेश्वर को अपने समूचे मन, समूचे प्राण, समूचे हृदय और अपनी समूची शक्ति से प्यार करो।"

जर्मन दार्शनिक पॉल डॉयसन ने एक स्थान पर कहा है--"हम बाइबिल में पढ़ते हैं कि 'तुम अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्रेम करो', पर इसका कारण हमें विस्तारपूर्वक उपनिषदों में प्राप्त होता है। कारण यह है कि पड़ोसी में वस्तुतः मेरी ही आत्मा रम रही है-- हर व्यक्ति में वही ईश्वर, वही दिव्यता विराजमान है। अतएव हमें दूसरों में उस ईश्वर को देखने की कोशिश करनी चाहिए और उनमें विराजमान उस परमात्मा से प्रेम करने का प्रयत्न करना चाहिए।

उपनिषद्-साहित्य में ही हम एक अन्य जगह पढ़ते हैं कि ऋषि याज्ञवल्क्य संसार का त्याग करना चाहते थे। जब उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपनी पत्नी मैत्रेयी को देनी चाही तो उसने अपने पति से पूछा, "क्या इस सम्पत्ति के द्वारा मैं अमरत्व पा सकूँगी ?" याज्ञवल्क्य ने कहा, "नहीं मैत्रेयी ! इसके द्वारा तुम ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बिता सकोगी। पर चूँकि तुम मुझे प्रिय हो और यह प्रश्न तुमने पूछा है, मैं तुम्हें सत्य का उपदेश दूँगा।" ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य कहने लगे--"पति पत्नी के लिए पत्नी से प्रेम नहीं करता पर पत्नी में विराजमान आत्मा के लिए प्रेम करता है। पत्नी पति से पति के लिए प्रेम नहीं करती किन्तु पति में विद्यमान आत्मा के लिए प्रेम करती है। माता बच्चे को बच्चे के लिए प्यार नहीं करती बल्कि बच्चे में अवस्थित आत्मा के लिए वह बच्चे को प्यार करती है।" वास्तव में वह दैवी प्रेम ही हम सबको आकर्षित करता है, हम भूल से उसे स्थूल और ऐन्द्रिक मान लेते हैं। हम अपने अज्ञान के कारण दूसरों में उस दैवी स्वभाव को नहीं देख पाते।

एक समय मेरा मन चंचल था। तब मेरे गुरुदेव स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने मुझसे कहा, "जाओ, ध्यान करो। जैसे जैसे तुम्हारा ध्यान जमेगा, जैसे जैसे तुम्हारा अभ्यास बढ़ता जायेगा, वैसे वैसे तुम्हारा हृदय बड़ा होता जायेगा और तुममें सबके प्रति करुणा जगेगी। तब तुम दूसरों को प्यार कर सकोगे। पर पहले तुम

अपने भीतर जाने का अभ्यास करो।" एक दूसरे अवसर पर उन्होंने अपने हृदय की ओर संकेत करते हुए मुझसे कहा, "जो ईश्वर को यहाँ पाता है, वह उसे सब जगह पाता है। जो उसे यहीं नहीं पा सकता, वह अन्यत्र भी नहीं पा सकेगा।"

दैवी प्रेम को समझ पाना तभी सम्भव है जब हम ईश्वर पर ध्यान लगाते हैं, निःस्वार्थ सेवा-कार्यों में अपनी शक्ति का सदुपयोग करते हैं और सतत सत् और असत् का विवेक करते रहते हैं। हम चार योग की बातें सुनते हैं——ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और ध्यानयोग। हमारे जीवन में इन सभी योगों का सुन्दर समन्वय होना चाहिए। गीता में यही बात बड़े सुन्दर ढंग से बतलायी गयी है। वह उपदेश देती है कि हमें कर्मों का त्याग नहीं करना है। कर्म करो, पर उसे भगवत्समर्पित कर दो। कर्म को उपासना मानो। सेवा करो, पर ऐसा न सोचो कि तुम दूसरों की सहायता कर सकते हो; बल्कि ऐसा मानो कि तुम दूसरों में विराजमान नारायण की सेवा कर रहे हो और इस प्रकार उनमें विद्यमान नारायण की उपासना कर रहे हो। हम अभी देखेंगे कि हिन्दुओं के धार्मिक अनुष्ठानों में इन चारों योगों का समन्वय हुआ है तथा उनमें द्वैत और अद्वैत की भी सुन्दर समरसता हुई है; क्योंकि आखिर उच्चतम सत्य यही है कि हम अपने भीतर अवस्थित सत्य से तद्रूप हो जायँ और यह जान लें हम वास्तव में ब्रह्म से अभिन्न हैं। इस

लक्ष्य को प्राप्त करने के साधनों में से धार्मिक अनुष्ठान एक है। अन्य दूसरे भी उपाय अवश्य हैं, पर धार्मिक अनुष्ठान आध्यात्मिक जीवन के लिए साधक को, विशेषकर प्रारम्भिक अवस्था में, बड़े सहायक सिद्ध होते हैं।

यहाँ पर हम संक्षेप में धार्मिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में पश्चिम में प्रचलित दो धारणाओं या विचारधाराओं का उल्लेख करें। एक विचारधारा तो धर्म को धार्मिक अनुष्ठानों से बिलकुल अभिन्न मानती है। उसके अनुसार, यदि तुम चर्च जाते हो, निर्दिष्ट क्रिया-अनुष्ठानों और उपदेशों का पालन करते हो, तो और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। दुर्भाग्य से यह विचारधारा क्रिया-अनुष्ठानों को इतना अधिक महत्त्व देती है तथा यथार्थ आध्यात्मिक जीवन के विकल्प के रूप में उनका इतना अधिक उपयोग करती है कि आत्मा या सत्य को ही भुला दिया जाता है। मनुष्य भूल गये हैं कि वे इन क्रियाओं का अनुष्ठान किस उद्देश्य से कर रहे हैं। वे भूल गये हैं कि इन अनुष्ठानों का उद्देश्य ईश्वर का साक्षात्कार है।

मैं जेम्स कवनॉ का उद्धरण देता हूँ। वे पहले एक कैथोलिक पादरी थे। वे कहते हैं, "हम इस कानूनी चर्च से मुक्ति चाहते हैं जिसने प्रेम के सौन्दर्य और सौरभ को कुरूप और घृण्य बना दिया है; जिसने संसार में स्नेह की वारि सिंचित करने के बदले सर्वत्र भय और अपराध-

भावना का प्रसार किया है। हम नहीं जानते कि ईश्वर को कैसे पायें, हमें कभी सिखाया नहीं गया। हमें तो बस यही सीख दी गयी कि हम नियमों का पालन करें, पाप से दूर रहें, नरक का भय करें और उस क्रॉस को वहन करते चलें जिसे हमने स्वयं बनाया है।"

दूसरी विचारधारा इसके बिलकुल विपरीत है और वह भी अतिवादी है। वह कहती है कि क्रिया-अनुष्ठानों का पालन अन्धविश्वास मात्र है। इस विचारधारा ने भी धार्मिक जीवन के परम प्रयोजन---ईश्वर-साक्षात्कार---को भुला दिया है। ईसा ने उपदेश दिया---"पहले तुम ईश्वर के राज्य को खोजो", "अपने स्वामी परमेश्वर को अपने समूचे मन, समूचे प्राण, और समूचे हृदय से प्रेम करो...", पर इन उपदेशों की अधिकांशतः उपेक्षा कर दी गयी है। इस दूसरी विचारधारा के लोगों का कहना है कि 'अर्थहीन क्रिया-अनुष्ठानों' में समय गँवाने के बदले दूसरों का हित करने में समय लगाना श्रेयस्कर है। दूसरे शब्दों में, इन लोगों ने धर्म के नाम पर मानवतावाद का गिलाफ चढ़ा दिया है। व्यक्तिगत रूप से मुझे मानवतावाद के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं है। वह मानवजाति को सहायता पहुँचाने के लिए एक अच्छा दृष्टिकोण है; पर मेरा अभिप्राय यह है कि हमें मनुष्य के पास यह विचार लेकर नहीं जाना चाहिए कि 'मैं तुम्हारी सहायता करूँगा', बल्कि ऐसा सोचकर जाना चाहिए कि ईश्वर ही उसका रूप धारण कर सामने आये

हैं ताकि हम उनकी सेवा कर सकें। यह सम्यक् दृष्टिकोण है। तब मनुष्य की सेवा भगवान् की उपासना बन जाती है और वह हमें ईश्वर तक ले जा सकती है। यह विचित्र बात है कि किसी भी सम-सामयिक ईसाई धर्मोपदेशक को मैं इस सत्य पर जोर देते हुए नहीं पाता कि "पहले तुम ईश्वर के राज्य को खोजो" या "अपने स्वामी परमेश्वर से प्रेम करो।" ऐसा क्यों ? इसलिए कि चर्च और ईश्वर अलग अलग हो गये हैं। तथापि, यदि हम किसी भी धर्म के उत्स तक जायँ और ईसा, मूसा, जरथुस्त्र या कृष्ण के उपदेशों का अध्ययन करें, तो हम सभी में उसी एक सत्य को विद्यमान पायेंगे। तभी तो हम श्रीरामकृष्ण की वाणी सुनते हैं--'जितने मत उतने पथ।' अन्ततोगत्वा, सभी धर्म उसी एक लक्ष्य पर पहुँचा देते हैं।

मैं बारम्बार एक बात कहा करता हूँ--"यदि रोम तुम्हारा गन्तव्य है तो सभी रास्ते रोम को ले जाते हैं। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि ईश्वर ही हमारा लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति यहीं और अभी हो सकती है। हमारे मानवी दृष्टिकोण से ईश्वर एक भाववाचक संज्ञा है, वह अव्यक्त और अवर्णनीय है। ज्योंही तुम उसका वर्णन करने की चेष्टा करते हो त्योंही उसे सीमित कर देते हो। धर्मोपदेशक शताब्दियों से उसका वर्णन करने की कोशिश करते रहे हैं--यह कहते हुए कि ईश्वर ऐसा है और ईश्वर वैसा है। पर वे अपने प्रयत्न

से असीम को सीमित कर देना चाहते हैं । उपनिषदों ने इसीलिए कहा कि "ईश्वर का नाम मौन है ।"

श्रीरामकृष्ण भ्रमर का दृष्टान्त देते हैं । पुष्प पर बैठने के पहले भौंरा गुंजार करता रहता है, पर जब फूल का रस पीने लगता है तब चुप हो जाता है । जब रसपान कर मत्त-सा हो जाता है तो फिर से मधुर गुंजार करने लगता है । इसी प्रकार, महान् आचार्यों और भक्तों ने अनुभव किया है कि ईश्वर का स्वरूप है मौन। जब वे भगवद्भाव में विभोर हो जाते हैं तो ईश्वर को बतलाने की कोशिश करते हैं । कुछ लोग ईश्वर को सगुण देखते हैं, तो कुछ निर्गुण, और कुछ उसे सगुण और निर्गुण के परे । वास्तव में, ईश्वर को सीमित नहीं किया जा सकता ।

उपनिषदों में एक उक्ति प्राप्त होती है--'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'--ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है । किसी भी अवतार की उपासना के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति की जा सकती है । अवतार अनेक हैं । पर जिस अवतार पर तुम्हारी विशेष भक्ति है, उसकी श्रद्धा और प्रेम से उपासना करने से तुम परम सत्य को पा सकते हो । किन्तु यहाँ पर एक बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिए कि तुम उस विशेष व्यक्तित्व द्वारा बँधे नहीं हो। सत्य का अनुभव करनेवाला व्यक्ति ईसा-केन्द्रित या कृष्ण-केन्द्रित या रामकृष्ण-केन्द्रित नहीं रहता । अवतार मानो एक दरवाजा है जिसके द्वारा असीम की झलक

पायी जाती है। अन्त में रूप पूरी तरह उड़ जाता है और तुम निरपेक्ष सत्य को पा लेते हो। पर जैसा मैंने पहले कहा कि इसके लिए किसी न किसी प्रकार की साधना का अभ्यास करना पड़ता है।

वेदान्त के अनुसार चार प्रकार की साधनाएँ हैं। पहली तो क्रिया-अनुष्ठानपरक उपासना है जिसमें कर्मकाण्ड का बाहुल्य होता है। प्रार्थना और नाम-जप करते हुए ईश्वर की उपासना पहली की अपेक्षा उच्चतर साधना है। इससे भी ऊँची साधना ईश्वर का ध्यान है जब मन का प्रवाह तैलधारावत् सतत उनकी ओर बहता है। और सबसे ऊँची साधना है ब्रह्म के साथ अपने अभिन्नत्व पर ध्यान करना। इस चौथी साधना में उस परमात्मा में सारा अहंकार विलीन हो जाता है और हम अनुभव करते हैं कि हम ब्रह्म ही हैं!

मेरे गुरुदेव ने एक बार कहा था, "मनुष्य जहाँ खड़ा है वहीं से उसे अपना आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि तुम एक सामान्य मनुष्य से निरपेक्ष ब्रह्म पर ध्यान करने के लिए कहो तो वह शीघ्र ऊब जायगा और अभ्यास छोड़ देगा। ब्रह्म की सत्यता उससे मानो दूर भाग जायगी। परन्तु यदि उसी मनुष्य को पुष्प, गन्ध एवं अन्य उपकरणों सहित भगवान् की पूजा करने को बताया जाय तो वह देखेगा कि उसका मन शनैः शनैः भगवान् में एकाग्र हो रहा है। उसे पूजा में आनन्द का अनुभव भी होगा। क्रिया-अनुष्ठानों के

माध्यम से भगवान् के नाम में रुचि पैदा होती है। उनके नाम का जप करना अच्छा लगता है। मन ज्यों ज्यों सूक्ष्म होता है त्यों त्यों उसकी उच्चतर श्रेणी की उपासना की क्षमता बढ़ती जाती है। इस प्रकार साधक सहज और क्रमिक रूप से अपने आदर्श की ओर अग्रसर होता जाता है।"

हिन्दुओं की अनुष्ठानपरक उपासना कैसी होती है? हमने कहा कि पहले तो उसके बहुत से उपकरण होते हैं--पुष्प, नैवेद्य, धूप-गन्ध, दीप, जल, इत्यादि। इसका रहस्य यह है कि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच तत्त्वों से विश्व बना है। पूजा के त्रिविध उपकरण इन पाँच तत्त्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार प्रतीकात्मक रूप से हम पूजा के द्वारा विश्व को भगवान् के चरणों में समर्पित करते हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि यह सृष्टि इतनी मोहक है कि हम स्रष्टा को भूलकर सृष्टि में फँस गये हैं। अतएव, स्रष्टा के स्मरणार्थ हम सृष्टि को उसके प्रति समर्पित करते हैं। तब केवल वह स्रष्टा ही अकेला रह जाता है।

हम इस साधना की प्रक्रिया पर विचार करें। पहले ईश्वर के नाम का जाप किया जाता है और उपासक ईश्वर को मन्दिर तक ही सीमित न रख सर्वव्यापक सत्ता के रूप में उस पर ध्यान करता है। उसके बाद वह मुद्राओं का अभ्यास करता है जिसका प्रतीकात्मक अर्थ है--इन्द्रियों के दरवाजों को बन्द कर लेना। तत्पश्चात्

वह एक छोटीसी प्रार्थना का गायन करता है जिसका सार यह है कि, "जैसे मनुष्य अपनी खुली आँखों से आकाश को देख लेता है, वैसे ही जब उसके प्रज्ञाचक्षु खुलते हैं तो वह ईश्वर को देख लेता है।" दूसरे शब्दों में, तुम इष्ट देवता के सामने इसलिए बैठते हो कि तुम्हारी भीतर की आँखें खुल जायँ और तुम ईश्वर को देख सको।

अनुष्ठान के समय हमारे हाथ विभिन्न मुद्राओं में रहते हैं। इन मुद्राओं का गम्भीर मनोवैज्ञानिक अर्थ हुआ करता है, क्योंकि, जैसा हम जानते हैं, शरीर और मन में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यदि मन में प्रेम या घृणा या ईर्ष्या का भाव आये तो शरीर पर तदनुरूप प्रतिक्रिया होती है। शुभ या अशुभ प्रत्येक विचार निश्चित रूप से शरीर पर अपनी एक छाप छोड़ता है और शरीर में तदनुरूप परिवर्तन ला देता है। पश्चिम में प्रोफेसर विलियम जेम्स ने पहली बार यह प्रदर्शित किया कि इसका विपरीत भी सत्य है, यानी यदि शरीर में किसी विशेष प्रकार का परिवर्तन लाया जाय, तो मन भी तदनुरूप अवस्था प्राप्त करने लगता है। अतः इन मुद्राओं का अभ्यास इसलिए किया जाता है कि हमारा मन आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हो जाय।

इसके बाद, तुम ईश्वर से अपने ऐक्य पर ध्यान करो। भले ही तुम इष्ट के सामने बैठकर कोई अनुष्ठान

कर रहे हो तथापि तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि उस सर्वानुस्यूत सत्ता के साथ तुम वस्तुतः एकरूप हो। यह भावना कैसे की जाय? पहले तुम मेरुदण्ड के मूल में अवस्थान करनेवाली कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करो और कल्पना करो कि वह दिव्य शक्ति सुषुम्ना नाड़ी में से विभिन्न चक्रों का भेदन करते हुए ऊपर उठ रही है। जैसे जैसे वह उठती है, वैसे वैसे कल्पना करो कि यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर में और सूक्ष्म शरीर कारण शरीर में तथा कारण शरीर विश्व के उपादान कारण मूल प्रकृति में लीन हुआ जा रहा है। अन्त में प्रकृति को भी ब्रह्म में लीन कर दो। इस प्रकार ब्रह्म को छोड़कर और कुछ बचा नहीं रहता। तब यह प्रतीति होती है कि 'मैं ब्रह्म हूँ। मैं वही हूँ।' ——'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहम्'। तब भला कौन किसकी उपासना करे? कहा गया है कि 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' ——यानी देवता बनकर देवता की पूजा करनी चाहिए। इस कथन का यही तात्पर्य है। यदि तुम अपने को पापी सोचो तो तुम पापी ही बने रहोगे। पर तुम तो शुद्ध हो, ईश्वर की आभा से दीप्त हो.——नहीं, ईश्वर-स्वरूप ही हो। अतः तुम्हारे ध्यान का विषय वह ईश्वर ही है।

अतएव धार्मिक अनुष्ठान ईश्वर के साथ अपनी अभिन्नता के साक्षात्कार की एक प्रक्रिया है। विभिन्न मुद्राओं और नैवेद्य आदि के द्वारा तुम अपनी इन्द्रियों,

मन और बुद्धि को, अपने समूचे शरीर को अपने उपास्य के साथ एकरूप कर रहे हो । साथ ही, अपने हृदय की कन्दरा में विराजमान अपने प्रभु का ध्यान भी कर रहे हो । उदाहरणार्थ, तुम एक पुष्प लेते हो और अपने हृदय-मन्दिर के देवता का आवाहन उस पुष्प में करते हो । तत्पश्चात् तुम उस पुष्प को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देते हो । तब बाहर वेदी पर विराजमान देवता जाग्रत् हो जाता है । वह वस्तुतः तुम्हारी ही आत्मा है, तुम्हारे भीतर का भगवान् है जिसका तुमने आवाहन किया है । इसके बाद धूप-दीप-गन्ध-माल्य आदि से तुम उस देवता की पूजा करते हो । ये वस्तुएँ असल में इस संसार का प्रतिनिधित्व करती हैं । तुम अपनी पूजा के द्वारा मानो सम्पूर्ण विश्व को भगवान् को वापस दे दे रहे हो ।

धार्मिक क्रिया-अनुष्ठानों के द्वारा हम अद्वैत के उच्चतम आदर्श तक पहुँच सकते हैं; क्योंकि जैसे जैसे इस उपासना में हम अग्रसर होते हैं, हमारा मन अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है और एक दिन हम इतना आगे बढ़ जाते हैं कि फिर क्रियाकाण्ड और अनुष्ठान आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती । जब गर्मी हो तो ठण्डक बनाये रखने के लिए पंखा चला सकते हो, पर जब वासन्ती बयार बहने लगती है तब पंखे की जरूरत नहीं रह जाती । इसी प्रकार, जब तुम ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करने लगोगे तब उनके ध्यान-

चिन्तन में ही हरदम लगे रहना चाहोगे। तब अन्य किसी प्रकार के अभ्यास की तुम्हें आवश्यकता न होगी, क्योंकि तब तो तुम्हारा मन खाते-पीते-जागते-सोते अहर्निश उन्हीं में लगा होगा।

•

गीता प्रवचन—३

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान।)

पिछली चर्चा में हमने विचार किया था कि गीता का कर्मसिद्धान्त हमें पलायनवादी नहीं बनाता। जब गीता कहती है कि कर्म करने मात्र में मनुष्य का अधिकार है, उसके फल में नहीं, तो यह एक सत्य की घोषणा है। हमने यह भी देखने का प्रयास किया था कि कर्म करते समय फल की आसक्ति न रखने का तात्पर्य क्या है। हमने कहा था कि फल का चिन्तन केवल समय और शक्ति का अपव्यय है। यह भी कहा था कि श्रीभगवान् के चरणों में समर्पण-भाव बना रहने से फल का चिन्तन अपने आप कम हो जाता है। हमने दो व्यक्तियों का उदाहरण दिया था——एक वह जो अपने अहंकार से परिचालित होकर कर्म करता है और दूसरा वह जो ईश्वर की कृपा का विश्वासी होकर, सभी कुछ को ईश्वर का मांगलिक प्रसाद मानकर जीवन के कर्तव्यों का निर्वाह करता है। कर्म करते समय केवल यही दो प्रकार के दृष्टिकोण सम्भव हैं। हमने यह भी कहा था कि जहाँ अहंकार-प्रेरित होकर कर्म करनेवाला व्यक्ति, ईश्वर को न माननेवाला व्यक्ति संसार की तनिक सी चोट से उखड जाता है, टूटकर बिखर जाता है, वहीं

ईश्वर में विश्वासी व्यक्ति संसार के घात-प्रतिघातों को ईश्वर का मंगलमय विधान मान, सह लेता है और भविष्य के लिए कमर बाँधकर खड़ा हो जाता है। वह टूटता नहीं। वह बिखरता नहीं, बल्कि ईश्वर की कृपा में विश्वासी होकर अधिक उत्साह के साथ परिस्थितियों का सामना करने के लिए उद्यत हो जाता है।

यहाँ पर कुछ लोग कह सकते हैं कि ईश्वर तो महज एक कल्पना है, इसलिए ईश्वर पर विश्वास करना भी कल्पना है। ये लोग कहते हैं कि तुम एक ईश्वर नाम का हौआ खड़ा कर लेते हो और यह मानने लगते हो कि सफलता-विफलता उसी की कृपा है। इस प्रकार मन को दिलासा देने की कोशिश करते हो। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यदि तर्क के लिए थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि ईश्वर एक कल्पना है, तो यदि कोई कल्पना मनुष्य को टूटने से, उसे बिखरने से बचा सकती है, विपत्ति के झंझावात से उसकी रक्षा कर उसे खड़ा रहने की शक्ति प्रदान कर सकती है, तो ऐसी कल्पना को ग्रहण करने में दोष क्या है? फिर मैं पूछता हूँ, क्या हमारा सारा जीवन ही एक लम्बी कल्पना नहीं है? हम सदैव कल्पना में ही तो विचरण करते रहते हैं। हमारा जीवन कल्पना की एक लम्बी गाथा है। थोड़ा विचार करें कि हम कितने क्षण वर्तमान में रहते हैं। हम देखेंगे कि वर्तमान में हम प्रायः रहते ही नहीं, या यदि रहते हैं तो बहुत थोड़ा।

शेष समय या तो हम अतीत की स्मृतियों में डूबे होते हैं या फिर भविष्य के ताने-बाने बुनते रहते हैं। और, अतीत और भविष्य दोनों ही कल्पनाएँ हैं—अतीत इसलिए कि वह बीत गया, और भविष्य इसलिए कि वह अजाना है। अतः यदि कोई कहे कि तुम ईश्वर को छोड़ दो क्योंकि वह एक कल्पना है, तो उससे कहा जा सकता है कि यदि तुम भूत और भविष्य का चिन्तन छोड़ सको तभी तुम ऐसा कहने के अधिकारी हो।

फिर एक पक्ष और भी है। यदि किसी कल्पना से ठोस लाभ होता हो तो वह ग्राह्य है। सामान्य व्यवहार एवं विज्ञान के क्षेत्र में भी कल्पनाओं का स्वीकरण हुआ है। अक्षांश और देशांश रेखाएँ आखिर क्या हैं? क्या महज कल्पना नहीं हैं? वे पृथ्वी पर कहीं खिंची तो नहीं हैं। पर उनकी सहायता से हम मरुस्थलों को पार करते हैं और हवाई जहाज में उड़कर अपने गन्तव्य को पहुँचते हैं। दिशाएँ भी केवल कल्पना ही हैं। पर हम दिशाओं की सहायता से दुस्तर समुद्रों को पार कर जाते हैं। विज्ञान में हमें बिन्दु (point) और सरल रेखा (straight line) की परिभाषाएँ पढ़ाई जाती हैं। तो क्या जो बिन्दु हम बनाते हैं या जो सरल रेखा खींचते हैं वह परिभाषा के अनुसार ठीक है? नहीं। बिन्दु वह है जिसमें न लम्बाई है न चौड़ाई और सरल रेखा वह है जिसमें लम्बाई तो है, पर चौड़ाई नहीं। अब किसी से कहो कि वैसा बिन्दु बना दे और वैसी

रेखा खींच दे, तो वह नहीं कर सकता। यहाँ पर भी हमें कल्पना करनी पड़ती है, मान लेना पड़ता है कि यह बिन्दु है और यह सरल रेखा। इसी कल्पना की भित्ति पर विज्ञान का इतना बड़ा सौध खड़ा है। अतः कल्पनाओं से ठोस लाभ होता देखा जाता है। तो अगर ईश्वर रूपी कल्पना से मनुष्य बिखरने से बच सकता है, हताशा से अपनी रक्षा कर फिर से उत्साहपूर्वक जीवन-संग्राम में उतर सकता है तो उसमें दोष क्या है?

और हम तो कहते हैं, 'बन्धु! ईश्वर कल्पना नहीं है। वह जीवन का परम सत्य है। उसे छोड़कर बाकी सब कल्पना है। वह अतीत में भी सत्य था, वर्तमान में भी सत्य है और भविष्य में भी सत्य रहेगा। वह त्रिकालाबाधित सत्य है। शेष जिन्हें हम सत्य कहते हैं वे वस्तुतः सत्य नहीं होते, वे कुछ समय तक के लिए अस्तित्ववान् प्रतीत होते हैं, पर उसके बाद उनका नाश हो जाता है। ईश्वर ही शाश्वत और अविनाशी है।'

तो गीता का कर्मयोग इस बात पर जोर देता है कि ईश्वर पर विश्वास करो और अपने जीवन की समस्त प्रेरणाओं का उत्स उसी को मानो। पूरी शक्ति के साथ हाथ का काम करो पर फल का अधिकार स्वयं न लो, जिसका है उसी के पास रहने दो। कर्म करने का अधिकार तुम्हारा है और फल देने का अधिकार ईश्वर का है। इस क्रम को उल्टा न होने दो। क्रम उलट जाय तभी सारी विपत्ति है, और हममें से अधिकांश के

जीवन में यह क्रम उल्टा रहता है। कर्म करने का अधिकार हम ईश्वर को दे देते हैं और स्वयं निठल्ले पड़े रहते हैं। कहते हैं कि ईश्वर की मर्जी हो तो वह करा लेगा, परन्तु फल के लिए हम आग्रहवान् होते हैं। इससे सन्तुलन बिगड़ जाता है और योग सिद्ध नहीं हो पाता। तो हम क्या करें? क्रम को किसी भी प्रकार उलटने न दें। जब कर्म करें तो पूरी तत्परता और कुशलता के साथ, यह मानकर कि कर्म करने का पूरा अधिकार हमारा है। पर फल के सम्बन्ध में सारी चिन्ता ईश्वर पर छोड़ दें। ईश्वर से कहें कि तुम्हीं कर्मफल-प्रदाता हो, तुम्हारी जो मर्जी हो करो। हमें तुम्हारा हर किया मंजूर है। यही उचित दृष्टिकोण है और गीता भगवती इसी दृष्टिकोण की शिक्षा देते हुए कहती है——

कर्मणि एव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ (२।४७)

——'तेरा अधिकार कर्म करने में ही है, फल में कभी नहीं। तू कर्मफल का हेतु मत बन। अकर्म के प्रति तेरा लगाव न हो।' श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तू कर्म-फल का हेतु मत बन। क्या तात्पर्य है इस कथन का? मनुष्य कर्म तो करता है पर उसके फल का हेतु भी स्वयं बन जाना चाहता है। मनुष्य स्वयं यदि कर्मफल को प्राप्त करने का कारण बन जाय तो वह कर्म से बँध जाता है। कोई वस्तु हमें कब बाँधती है? जब उसकी

चाह हममें होती है तब। कर्मफल हमें कब बाँधता है? जब हम उसके लिए आग्रहवान् होते हैं तब। गीता कहती है कि कर्म का फल तो कर्म के अटल सिद्धान्त से तुम्हें मिलेगा ही, तुम्हें इसके लिए कारण बनने की आवश्यकता नहीं। जो चीज तुम्हें स्वयं होकर मिलने-वाली है उसके लिए छीना-झपटी क्यों? कर्मफल का हेतु तो कर्म में निहित 'अपूर्व' नामक शक्ति है। तुम इस 'अपूर्व' का स्थान लेकर क्यों कर्मपाश में बँधना चाहते हो?

यह एक नया दृष्टिकोण है जो गीता से प्राप्त होता है। कर्म करो, पर फल के प्रति लगाव न हो। हम कर्म-फल का कारण न बनें और अकर्म से भी दूर रहें। मनुष्य सोच सकता है कि जब मुझे कर्मफल से कोई प्रयोजन नहीं है तो कर्म फिर करूँ ही क्यों? इसलिए गीता माता कहती है कि नहीं, कर्म करने का प्रयोजन है। बिना कर्म किये जीवन का चरम लक्ष्य नहीं प्राप्त होता। अतएव निष्क्रिय मत बनो, अकर्मण्यता से दूर रहो। कर्मों को भगवत्समर्पित बुद्धि से करो। इससे कर्मों का विष सूख जाता है। कर्मों में स्वाभाविक रूप से रहनेवाली बन्धनशक्ति स्खलित हो जाती है। यही कर्म करने का कौशल है। यही योग है, क्योंकि योग को कर्म करने का कौशल कहा गया है––'योगः कर्मसु कौशलम्'।

श्रीरामकृष्ण देव से भक्तों ने पूछा, "महाराज!

योग को कर्म की कुशलता कहा है। इसका क्या मतलब?" श्रीरामकृष्ण देव ने उत्तर में दो उदाहरण दिये। कटहल काटने की कुशलता किसमें है? इसमें कि हम कटहल तो काटें पर इस प्रकार काटें कि उसका दूध हाथों में न चिपक जाय। शहद के छत्ते से शहद निकालने की कुशलता किसमें है? इसमें कि हम शहद तो निकालें पर मधुमक्खियाँ हमें काट न खायँ। इसी प्रकार कर्म करने की कुशलता इसमें है कि हम कर्म तो करें पर कर्मों में स्वभाव से जो बाँधने की शक्ति है वह हमें लपेट न ले, कर्मों में जो विष नैसर्गिक रूप से भरा है वह हमें विषाक्त न कर दे। यही 'योग' शब्द का तात्पर्य है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' तथा 'समत्वं योग उच्यते' इन दोनों परिभाषाओं का यही मिला-जुला अर्थ है।

अर्जुन को भय हो रहा था कि युद्ध रूपी घोर कर्म करने से वह पाप का भागी होगा। वह भूल गया था कि युद्ध उसका स्वधर्म है और स्वधर्म के पालन से पाप नहीं होता। उसका चित्त मोह से घिर गया था। वह स्वजनों की आसक्ति में पड़कर, या यह भी सम्भव है कि हार जाने की सम्भावना देखते हुए, युद्ध-कर्म से निवृत्त होकर जंगल चला जाना चाहता था। भले ही अर्जुन ने भिक्षा के द्वारा जीवन-यापन की बात कही, पर कृष्ण तो मनोवैज्ञानिक थे। वे मानव-मन को पढ़ ले सकते थे। उन्होंने अर्जुन की दुर्बलता को भाँप लिया

और उसे बताया कि स्वधर्म को त्यागकर परधर्म ग्रहण करने का क्या दुष्फल होता है। उन्होंने अर्जुन से कहा––

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥(३।३५)

––'हे पार्थ! अच्छी तरह अनुष्ठित दूसरे के धर्म से गुणरहित भी अपना धर्म उत्तम है; अपने धर्म में मरना भी कल्याणकारक है, दूसरे का धर्म भय को देनेवाला है।' भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वधर्म में स्थित रहने के लिए प्रेरित करते हैं। दूसरे का धर्म ऊपर से कितना भी आकर्षक क्यों न दीखता हो, पर जो हमारा स्वभाव-प्राप्त कर्तव्य-कर्म है उसे छोड़कर दूसरे के धर्म को स्वीकार करने से अन्ततोगत्वा बड़ी हानि होती है। स्वधर्म भले ही विगुण और नीरस प्रतीत होता हो, पर यदि उसका अनुष्ठान 'योग' की भावना से किया जाय, तो वही हमारे लिए कल्याणकारी सिद्ध होता है। कारण यह है कि स्वधर्म सहज होता है, हमारी प्रकृति के अनुकूल होता है और परधर्म आकर्षक दीखने पर भी गरिष्ठ होता है। स्वधर्म में यदि कोई दोष भी दिखे तो उस दोष का मार्जन करते हुए उसका अनुष्ठान करना चाहिए। संसार में ऐसा कोई कर्म नहीं है जो पूरी तरह निर्दोष हो। कर्म में गुण-दोष दोनों रहते हैं।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषम् अपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ १८।४८

——'हे कौन्तेय ! जो स्वभाव-प्राप्त कर्म हैं उनमें दोष दीखने पर भी उनका त्याग नहीं करना चाहिए। जैसे आग के साथ हरदम धुआँ लगा ही रहता है वैसे ही सभी कर्म किसी न किसी दोष से युक्त रहते ही हैं।'

यदि मनुष्य सोचे कि मैं केवल निर्दोष कर्म करूँगा, तो भले ही वह सारी दुनिया में चक्कर लगा ले, उसे निर्दोष कर्म ढूँढ़े नहीं मिलेगा। अर्जुन को हठात् युद्ध में दोष दिखा। युद्ध उसका स्वभाव-प्राप्त कर्म था, स्वधर्म था। स्वधर्म में दोष-दर्शन करने के कारण वह विचलित हो गया और स्वधर्म को छोड़कर भिक्षा द्वारा जीवन-यापन करने की बात कहने लगा। प्रकारान्तर से उसे संन्यास-धर्म बड़ा आकर्षक लगने लगा और वह उस परधर्म को अंगीकार करने की वात कहने लगा। अर्जुन नहीं समझ सका था कि उसके इस मानसिक रुझान के पीछे कायरता और मनोदौर्बल्य कार्य कर रहा है। नहीं समझ सका था कि परधर्म उसके विनाश का कारण होगा और हठपूर्वक यदि वह उसे अंगीकार कर लेगा तो 'इतो नष्टः उतो भ्रष्टः' वाली कहावत चरितार्थ हो जायगी। पर कृष्ण यह समझते थे। इसीलिए उन्होंने अर्जुन को फटकारा। गाण्डीवधारी अर्जुन को क्लीब कहा, नपुंसक कहकर पुकारा। उसे परधर्म की भयावहता बतलायी और स्वधर्म में स्थित रहने पर बल दिया।

स्वधर्म का तात्पर्य किसी सम्प्रदाय से नहीं है। स्वधर्म का मतलब हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म आदि से

नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक अलग और विशेष धर्म होता है । उसका यह धर्म उसके संस्कारों पर, उसकी जन्मजात अभिरुचियों पर आधारित होता है । मान लें कि एक माता-पिता की दस सन्तानें हैं । तो इनमें से प्रत्येक सन्तान का स्वधर्म दूसरों के स्वधर्म से भिन्न होगा । स्वधर्म का पथ line of least resistance (सबसे कम अवरोध वाला पथ) है । स्वधर्म के अवलम्बन से मनुष्य की प्रगति अपेक्षाकृत शीघ्र होती है। अपनी जन्मजात अभिरुचियों और मानसिक रुझान के माध्यम से मन को ईश्वर की ओर मोड़ने का अभिक्रम करना स्वधर्म कहलाता है । स्वधर्म-पालन का प्रयोजन है–मन को ईश्वराभिमुखी बनाना । कुछ परिस्थितियों के कारण अचानक जब हमारी वृत्तियाँ स्वधर्म-पालन को छोड़कर परधर्म की ओर मुड़ने लगती हैं तब उसे स्वधर्मत्याग कहते हैं । शनैः शनैः अभिरुचि में परिवर्तन और उन्नयन हो सकता है । सम्भव है जब मैं छोटा था तब मेरी रुचि किसी विशेष दिशा में थी । धीरे धीरे मानसिक विकास के साथ मेरी रुचि में भी परिवर्तन होता गया । तो कह सकते हैं कि मेरा स्वधर्म भी मेरे मानसिक विकास के अनुरूप बदलता गया । इसे स्वधर्म-त्याग नहीं कहते । यह तो मानो क्रमिक रूपान्तरण है–विकास है । तब स्वधर्म-त्याग का क्या मतलब? यदि मैं हठात् किन्हीं कारणों से अपने स्वधर्म को एकदम छोड़ दूँ और परधर्म अपना लूँ–ऐसा परधर्म जिसमें मेरी पहले

कभी आस्था नहीं थी, तो वह स्वधर्म-त्याग कहलाता है। अर्जुन स्वधर्म को छोडना चाहता था। युद्ध के पूर्व तक अर्जुन ने यही कहा था कि वह दुर्योधन को देख लेगा, कर्ण से निपट लेगा और दुःशासन को मजा चखा देगा। उसने इससे पूर्व कभी भी संन्यास की बात नहीं कही थी। कृष्ण ने कभी अर्जुन के मुँह से वैराग्य की बातें नहीं सुनी थीं। अर्जुन ने हरदम अपने गाण्डीव की सराहना की थी। उसे अपने भुजबल पर गर्व था। गाण्डीव की टंकार ही उसका जीवन थी। जिस समय उसने कृष्ण से रथ को दोनों सेनाओं के बीच में ले जाने को कहा तब भी उसमें क्षत्रियोचित शौर्य कार्य कर रहा था और उसने अभिमानपूर्वक कृष्ण से कहा भी था—

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ १।२२

—'मैं उन लोगों को देख लेना चाहता हूँ जो लड़ाई की कामना से यहाँ खड़े हैं तथा जिनसे इस रण-उद्योग में मुझे युद्ध करना है।' जरा अर्जुन के इस वाक्य पर तो ध्यान दीजिए—'कैर्मया सह योद्धव्यम्'—मुझे किन-किनके साथ लड़ना है। यानी, अर्जुन तब युद्ध का आकांक्षी है। पर एक बार दोनों सेनाओं को देख लेने पर उसमें विषाद प्रवेश करता है। उनकी वृत्तियाँ हठात्, अचानक मोड़ लेती हैं और वह संन्यास की बातें करने लगता है। इसको स्वधर्मत्याग कहते हैं। यहाँ स्वधर्म का क्रमिक रूपान्तरण या विकास नहीं है, बल्कि परिस्थितियों की चोट से

उसका अचानक त्याग है। ऐसा त्याग मानसिक व्यामोह के कारण हुआ करता है। इसीलिए कृष्ण परधर्म को भयावह कहते हैं। मानसिक व्यामोह की अवस्था में होनेवाले कार्य भयावह की ही श्रेणी में आते हैं।

तो, अर्जुन इसी व्यामोह से आक्रान्त हुआ था और अपने स्वधर्म में दोष देख रहा था। श्रीकृष्ण उसे समझाते हुए कहते हैं, "पार्थ ! संसार के सारे कर्म किसी न किसी दोष से युक्त हैं। दोष और कर्म का परस्पर सम्बन्ध धुएँ और आग के समान है। कोई दोष दिखा इसीलिए स्वभाव-प्राप्त कर्म को छोड़ नहीं देना चाहिए। तू अपना कर्तव्यकर्म कर, अपने स्वधर्म का पालन कर। इसमें जो दोष तुझे दिखायी देता है, उससे छुटकारे की विधि तुझे बताये देता हूँ।"

और भगवान कृष्ण ने वह विधि बतलायी भी। विधि है---भगवत्-समर्पित बुद्धि से स्वधर्म का अनुष्ठान करना। कर्तव्य-कर्म पूरी तत्परता और कुशलता के साथ करते हुए फलाफल भगवान् पर छोड़ देना। कर्तापन का भाव अपने ऊपर न लादकर उसे भगवान् पर लाद देना। विकर्म और अकर्म से अपना बचाव करते हुए कर्तव्य-कर्मों को ईश्वर की पूजा मानते हुए करना।

यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जाता है। वह यह कि एक ओर तो कहा जाता है कि सब कुछ ईश्वर की प्रेरणा से होता है, और दूसरी ओर यह कहा जाता है विकर्म और अकर्म से अपना बचाव करो। अगर सभी कुछ ईश्वर की

प्रेरणा है, तो विकर्म और अकर्म भी ईश्वर-प्रेरित हैं। उनसे बचने की फिर कोशिश क्यों की जाय? क्यों न यही मानकर चलें की दुष्कर्म भी ईश्वर ही कराता है? इसका उत्तर यह है कि वह स्थिति बहुत ऊँची है जब भला और बुरा, शुभ और अशुभ सभी कुछ ईश्वर की प्रेरणा मालूम होता है। सामान्य अवस्था में ऐसा तर्क गड्ढे में ले जानेवाला होता है। आज हमें ईश्वर में विश्वास नहीं है, इसीलिए हम ऐसा कुतर्क करते हैं। यदि वास्तविक रूप से हम ईश्वर में विश्वासी हो जायँ तो इस प्रकार के गलत तर्क हमें पीड़ित नहीं करते। आज जीवन में जितने क्लेष हैं वे नासमझी के कारण पैदा होते हैं। एक समय आयेगा जब हम अध्यात्म की डगर में आगे बढ़ जायेंगे और ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेंगे जब अशुभ भी भगवान् की ही प्रेरणा मालूम पड़ेगा। तब वृक्ष की एक पत्ती का हिलना भी ईश्वर-प्रेरित जान पड़ेगा। पर यह हमारी आज की स्थिति में सत्य नहीं है। आज हम साधना की स्थिति में हैं, राहगीर हैं। आज हमारी भावना कैसी हो? यही कि जो कुछ मुझसे दुष्कर्म हो जाता है, या कुविचार मन में उठता है, वह मेरे अहंकार से प्रेरित होता है; और जो कुछ अच्छा होता है वह ईश्वर की कृपा से होता है। यदि हमसे कुछ बुरा हो गया तो पश्चात्ताप करते हुए हम प्रभु से निवेदन करें, "प्रभो! ऐसा मुझसे और कभी न हो। ऐसी मेरी कुवृत्ति न हो।

तुम मेरी अशुभ वृत्तियों को दूर कर दो। मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। मुझ पर कृपा करो।" एवंविध शरणागत-भाव चित्त के विक्षेप को धीरे धीरे दूर करता है और मन की एकाग्रता में सहायक होकर हमें योगारूढ़ बना देता है।

परन्तु यहाँ फिर से एक प्रश्न पूछा जा सकता है। ठीक है, हमने समझ लिया कि शरणागत-भाव साधक को अध्यात्म के पथ पर ऊँचा उठा ले जाता है। पर यह कैसे सध सकता है कि जो कुछ भी हम करें उसे ईश्वर-समर्पित कर दें? उत्तर में हम कह सकते हैं कि ईश्वर का सतत स्मरण-चिन्तन करने से यह भाव सध सकता है। इस पर फिर प्रश्न उठा कि भगवान् का निरन्तर स्मरण भला कैसे किया जा सकता है? अगर हम हिसाब करते समय ईश्वर का स्मरण करें तो क्या हिसाब में गड़बड़ी नहीं हो जायेगी? आप तो गीता का हवाला देते हुए कहते हैं कि योग कर्म करने की कुशलता है। तो इस प्रकार काम करते हुए अगर ईश्वर का स्मरण-चिन्तन किया जाय तो क्या उससे कर्म में अकुशलता नहीं आयेगी? कोई कह सकता है कि यदि मैं सायकिल पर बाजार जाते हुए ईश्वर का स्मरण करने लगूँ तो क्या कोई दुर्घटना नहीं हो जायेगी? भक्तों ने श्रीरामकृष्ण से पूछा था, "महाराज! हर समय, कार्यों के बीच, ईश्वर का चिन्तन कैसे किया जा सकता है? ठीक है कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं जब कहा जा सकता है कि

'हाथ से काम मुँह से नाम'। पर जिस समय हम बुद्धि को निविष्ट कर कर्म में लगे होते हैं तब ईश्वर का चिन्तन कैसे हो सकता है?" उत्तर देते हैं श्रीरामकृष्ण। दाँत की पीड़ा का उदाहरण देकर स्मरण के रहस्य को खोल देते हैं। जब दाँत की पीड़ा होती है तो वह मानो मन के एक भाग को पकड़ लेती है। मन का वह भाग हरदम दाँत की पीड़ा में पड़ा रहता है। बाजार जाते, ऑफिस में काम करते, घर में बैठते-बोलते—सब समय दाँत की पीड़ा का अनुभव होता रहता है। उसी प्रकार अभ्यास के द्वारा मन को भगवान् के चरणों में इस प्रकार लगा देना चाहिए कि उनका स्मरण अन्तःप्रवाह के समान मन के भीतर सदैव बहता रहे। मन की ऐसी अवस्था दीर्घकालव्यापी अभ्यास से सिद्ध होती है। श्रीरामकृष्ण जैसा कहते थे—जब संसार के काम करो तो एक हाथ से भगवान् के चरणों को पकड़े रहो और दूसरे से काम करो; जब काम समाप्त हो जाय तो वह दूसरा हाथ भी भगवान् के चरणों में लगा दो। यही सतत स्मरण का रहस्य है। हर कर्म के प्रारम्भ और अन्त में श्रीप्रभु की कृपा का स्मरण करो, बीच में अवकाश मिलने पर मन को पुनः उनमें लगा दो। हिसाब के पहले और अन्त में श्रीभगवान् का चिन्तन कर लो। हिसाब के बीच में, कलम रखकर, फिर से उनकी कृपा का स्मरण कर लो। इससे ईश्वर का सतत स्मरण सधता है और कर्म पहले की अपेक्षा अधिक कुशलता से निष्पन्न होता है।

एक संन्यासी हिमालय के रास्ते पर ऊपर चढ़ रहे थे। बीच में उन्हें ठोकर लगी और वे कह उठे, 'प्रियतम ! इस क्षण तुम्हारी विस्मृति हो गयी थी इसलिए मुझे ठोकर लगी।' कैसी अच्छी बात है ! संसार में ठोकर तब लगती है जब हम ईश्वर को भूल जाते हैं। ईश्वर का चिन्तन-स्मरण हिसाब में गड़बड़ी नहीं पैदा करता या कार्य की 'क्वालिटी' को खराब नहीं करता, बल्कि उसे उत्तम बनाता है। जो व्यक्ति कह रहा था कि सायकिल पर बाजार जाते समय ईश-स्मरण करने से क्या टक्कर नहीं हो जायेगी, उससे पूछा जाय कि क्या सारे समय तुम सायकिल के चक्के को देखते रहते हो ? क्या तुम्हारा मन इधर-उधर कहीं नहीं जाता ? देखा जाय तो इस व्यक्ति का मन संसार में सर्वत्र चक्कर काट रहा है और ईश्वर का चिन्तन करने के लिए कहने पर वह दुर्घटना होने की दलील देता है। जो व्यक्ति हिसाब कर रहा है, उसका भी मन जाने कहाँ भटकता रहता है। तात्पर्य यह है कि ये दलीलें लचर हैं। मन पर अगर अभ्यास द्वारा संस्कार डाले जायँ तो हम सतत ईश्वर का स्मरण करने में सफल हो सकते हैं।

एक समय मुझे ठोकर लगी और चोट के कारण मैं लँगड़ाकर चलने लगा। दो दिन बाद मैंने सपना देखा। सपने में भी मैं लँगड़ा-लँगड़ाकर चल रहा था। अब देखिये कि चोट जैसी एक सामान्य क्रिया ने मन पर इतना संस्कार डाल दिया कि स्वप्न में तदनुरूप

क्रिया होने लगी। तो अगर हम जान-बूझकर मन पर समर्पण के संस्कार डालते रहें तो ईश्वर के प्रति समर्पण-भाव की एक अन्त:सलिला मन में से बहाना क्यों सम्भव न होगा ? इस अभ्यास को ही साधना कहते हैं। यही योग है जिसका उपदेश गीता करती है। यही रसायन है जो कर्म के विष को सोख लेता है और कर्म से लगनेवाले बन्धन को छिन्न कर देता है।

(क्रमश:)

•

अमेरिका में विवेकानन्द स्मृति

डॉ. रमेशचन्द्र मजुमदार

(प्रस्तुत लेख के लेखक प्रख्यात इतिहासकार हैं। वे अमेरिका में निवास करते समय भारत के उन सांस्कृतिक सूत्रों का अन्वेषण करते हैं जिनका प्रभाव अमेरिका के लोगों पर व्यापक रूप से पड़ा था। प्रस्तुत लेख में उन्होंने अमेरिकावासियों पर स्वामी विवेकानन्द के अमिट प्रभाव की खोजपूर्ण चर्चा की है। यह लेख मूल बँगला में रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित 'उद्‌बोधन' मासिक पत्रिका में छपा था, जहाँ से यह साभार गृहीत हुआ है। अनुवादिका हैं प्राध्यापिका कु. अजिता चटर्जी। —सं.)

मार्च, १९५८ के अन्तिम दिनों में मैं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका गया था। मैं उस देश में प्राय: एक वर्ष तक शिकागो और पेंसिलवेनिया में भारतीय इतिहास के अतिथि-अध्यापक के रूप में रहा। जैसे ही मेरा शिकागो जाना निश्चित हुआ वैसे ही मेरे मन में स्वामी विवेकानन्द की स्मृति जाग उठी और उनकी बातें मुझे बार बार याद आने लगीं कि कैसे एक अख्यात, अज्ञात, निस्सहाय और सम्बलहीन युवा भारतीय संन्यासी ने उस शहर में विश्व-धर्म-परिषद् के सम्मुख भारतीय धर्म और संस्कृति के गौरव को प्रतिष्ठित किया था और हमारे जातीय जीवन में नयी स्फूर्ति का संचार किया था। मैंने सोचा कि जब मेरी शिकागो-यात्रा अप्रत्याशित रूप से सम्भव हो गयी है तब तो मैं स्वामीजी की

चरण-रज से पवित्र धर्म-महासभा के अधिष्ठान-कक्ष का भी दर्शन कर कृतार्थ हो सकूँगा। इसलिए मैं शिकागो पहुँचने के कुछ दिनों के बाद उस स्थान की खोज में जुट गया। उस समय वहाँ बहुत से भारतीय युवक भारत सरकार की छात्रवृत्ति प्राप्त कर 'अन्तर्राष्ट्रीय विद्यार्थी भवन' में रहा करते थे। मैंने उनसे इस विषय में पूछा पर वे इस सम्बन्ध में अनभिज्ञ लगे। इसी प्रकार उस देश में बसे हुए अनेक वयस्क भारतीय भी मुझे धर्म-महासभा के अधिवेशन-स्थल के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं बता सके। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि वह मकान तो अब नाटचशाला में बदल गया है। उन्होंने उस नाटचशाला का नाम भी मुझे बताया। काफी खोजबीन के बाद आखिरकार मैं उस स्थान में पहुँचा। पर उस भवन को देखकर मेरे मन में सन्देह पैदा हो गया क्योंकि मुझे उस भवन में धर्म-महासभा के अधिवेशन के उपयुक्त कोई कक्ष नहीं दिखा। एक सज्जन से पूछने पर पता चला कि यह इमारत बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में बनी थी। इस प्रकार मेरा सन्देह सत्य में बदल गया। तब मैंने सोचा कि अब मेरी खोज दो उपायों से ही सम्भव हो सकती है। एक तो मुझे कोई ऐसी किताब मिले जिसमें धर्म-महासभा का विवरण हो, या फिर तत्कालीन समाचार-पत्रों की जाँच की जाये। विश्वविद्यालय की ग्रन्थ-तालिका का अवलोकन करने पर मुझे नीली के द्वारा लिखी हुई

'हिस्ट्री ऑफ पार्लियामेंट ऑफ रिलीजन्स' नामक पुस्तक मिली। इस पुस्तक से मुझे ज्ञात हुआ कि जिस भवन में धर्म-महासभा का अधिवेशन हुआ था वह अब इस शहर का प्रसिद्ध संग्रहालय है। वस्तुतः इस भवन का निर्माण संग्रहालय के लिये ही किया गया था। इसका निर्माण-कार्य १८९३ ई. में समाप्त हुआ, पर संग्रहालय की वस्तुओं के पहुँचने के पहले ही इसके विशाल कक्ष में धर्म-महासभा का अधिवेशन आयोजित किया गया था। इन तथ्यों को इकट्ठा कर मैं संग्रहालय पहुँचा। उस देश में विश्वविद्यालयीन प्राध्यापकों की विशेष प्रतिष्ठा है। जब संग्रहालय के अध्यक्ष को यह ज्ञात हुआ कि मैं शिकागो विश्वविद्यालय का प्राध्यापक हूँ तब उन्होंने मेरी बड़ी खातिरदारी की। जब उन्होंने मेरे वहाँ आने का उद्देश्य जाना तब उन्होंने वहाँ के कुछ पुराने कर्मचारियों से इस सम्बन्ध में पूछताछ की। उनमें से एक वृद्ध कर्मचारी ने बताया कि इसी भवन के विशाल कक्ष में महासभा का अधिवेशन हुआ था और यह भी सुना है कि यहाँ एक हिन्दू संन्यासी भाषण देकर बहुत प्रसिद्ध हुए थे। उस समय विशाल कक्ष बन्द था पर संग्रहालय के अध्यक्ष उसे खुलवाकर मुझे वहाँ ले गये। वहाँ पहुँचने पर ६५ वर्ष पूर्व के उस बीते दिन का दृश्य मेरी आँखों के सामने झूलने लगा। मुझे प्रतीत हुआ कि मैं उस उदात्त कण्ठ से निकलती हुई 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स ऑफ अमेरिका' ध्वनि को सुन रहा हूँ और

उसके साथ विपुल करतल-ध्वनि मेरे कानों में गूँज रही है। चिर-आकांक्षित स्थान का दर्शन कर मेरा जीवन धन्य हो गया।

पर मुझे यह सोचकर बड़ा दुःख होता है कि कोई भी भारतीय इस पवित्र स्थान की स्थिति के सम्बन्ध में न तो कुछ जानता है और न उसके मन में जानने की इच्छा ही जागती है। वहाँ तीन-चार महीने रहने के बाद जब मेरा उस देश के अनेक निवासियों से परिचय हुआ तब मैंने उनसे स्वामीजी के विषय में चर्चा छेड़ी। मैंने उनके समक्ष स्वामीजी की जानकारी देते हुए यह प्रस्ताव रखा कि क्या उक्त संग्रहालय में एक प्रस्तर-फलक लगाकर स्वामीजी की स्मृति को अक्षुण्ण नहीं बनाया जा सकता? अनेक लोगों ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया पर उन्होंने यह भी बताया कि बिना भारत सरकार के प्रस्ताव के अमेरिका के प्रचलित नियम के अनुसार ऐसा फलक नहीं लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त, अनेक वैधानिक जटिलताएँ भी हैं। शिकागो में मैं प्रायः छः महीने रहा। इस अवधि में मैंने अनेक व्यक्तियों से इस विषय में चर्चा की। शिकागो-स्थित रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी विश्वानन्दजी के समक्ष भी मैंने यह प्रस्ताव रखा तथा उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि वे भी इस दिशा में प्रयास करेंगे।

अमेरिका से लौटने के बहुत दिनों बाद मैंने सुना कि

शिकागो के कुछ भारतीय नागरिकों ने उक्त स्थान के अधिकारियों के पास स्वामीजी के स्मृति-फलक की प्रतिष्ठा के लिये आवेदन-पत्र भेजा था। यह आवेदन-पत्र भारत सरकार के राजदूत या स्थानीय प्रतिनिधि के पास उनकी सम्मति के लिये अग्रेषित किया गया था, पर उन्होंने इस विषय में कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। फलतः आवेदन-पत्र का कोई फल नहीं हुआ। ऐसा सुना जाता है कि जब इसकी जानकारी भारत सरकार को हुई तब उसने अपने प्रतिनिधि की इस अवहेलना या उदासीनता के विरुद्ध तीव्र मत प्रकट किया था। मैं यह नहीं जानता कि उपर्युक्त बातें कहाँ तक सच हैं। मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि उस आवेदन-पत्र का अन्त में कोई फल निकला या नहीं। जिन महानुभावों का सम्पर्क दिल्ली के अधिकारियों के साथ है उन्हें इस विषय में सही जानकारी मिल सकती है। भारत सरकार मुझ पर विशेष प्रसन्न नहीं है। मैंने इस सम्बन्ध में कोई चेष्टा इसलिए नहीं की कि उसका कोई विपरीत फल न निकले !

शिकागो की धर्म-महासभा में स्वामीजी ने अनेक वक्तृताएँ दी थीं। मैंने सोचा कि उस समय के अखबारों में कुछ ऐसे तथ्य मिल सकते हैं जो शायद किसी भी किताब में न छपे हों। इसलिए मैंने उन्हें पढ़ने का प्रयत्न किया। मैंने 'शिकागो डेली ट्रिब्यून' और 'शिकागो डेली न्यूज' के सम्पादकों को पत्र लिखकर

पूछा कि क्या मैं उनके कार्यालय में आकर ११ सितम्बर १८९३ से लेकर उस माह के अन्त तक के अखबारों को पढ़ सकता हूँ ? उन्होंने बड़े हर्ष से मुझे इसकी अनुमति दी। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि मैं जिस विश्वविद्यालय का प्राध्यापक हूँ वहाँ के ग्रन्थागार में उन सभी पत्रों की माइक्रोफिल्में सुरक्षित हैं तथा मैं वहाँ उन्हें अनायास पढ़ ले सकता हूँ। पत्र मिलते ही मैं ग्रन्थागार पहुँचा। मैंने उन अखबारों की उल्लिखित संख्याओं को पढ़ने की इच्छा प्रकट की और पूछा कि मैं उन्हें कब पढ़ सकता हूँ ? एक महिला-कर्मचारी ने उत्तर दिया कि जब भी मेरी इच्छा हो, मैं उन्हें पढ़ सकता हूँ। मेरी इच्छा जानकर वह आठ-दस मिनट के भीतर ही सभी सम्बन्धित फिल्मों को निकालकर ले आयीं और मुझे एक कमरे में ले गयीं जहाँ फिल्मों को पढ़ने के तीन-चार यंत्र रखे हुए थे। उन्होंने मुझे बता दिया कि यंत्र में फिल्म को कैसे लगाया जाता है। तीन-चार दिनों में मैंने उन सब फिल्मों को पढ़ लिया। इससे स्वामीजी के सम्बन्ध में कुछ नये तथ्यों की जानकारी मुझे हुई। उन्हें पढ़कर आरम्भ में ही मुझे खटका सा लगा। मैंने स्वामीजी की अनेक जीवनियों में पढ़ा है कि धर्म-महासभा में स्वामीजी ने अपना पहला भाषण 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स ऑफ अमेरिका' के सम्बोधन के साथ दिया था तथा इस सम्बोधन को सुनते ही कुछ मिनटों तक तुमुल करतल-ध्वनि होती रही थी। पर

शिकागो के इन दोनों पत्रों में इसका उल्लेख तक नहीं था। ये दोनों पत्र स्वामीजी को पसन्द नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में मुझे काफी प्रमाण भी मिले। अखबार के एक अंक में स्वामीजी का चित्र प्रकाशित हुआ है तथा उनके व्याख्यान के कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं। सबसे ऊपर 'A Hindu Monk denounces Christianity' भी छपा है। इन बातों के ज्ञान के लिए मुझे पर्याप्त खोज और अध्ययन करना पड़ा। सारी बातों को विस्तार से समझाने के लिए मुझे अनेक अप्रीतिकर आलोचनाएँ करनी होंगी। इतने सुदीर्घ काल के बाद यह सब न करना ही बेहतर है। संक्षेप में, मैं कह सकता हूँ कि उस धर्म-महासभा में कुछ अन्य प्रतिष्ठित भारतीय प्रतिनिधि भी उपस्थित थे। वे स्वामी विवेकानन्द जैसे अप्रसिद्ध और अज्ञात युवक को हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते थे। वे यह प्रचारित करने में तनिक भी कुण्ठित नहीं हुए कि स्वामीजी की भारत में कोई मर्यादा अथवा प्रतिष्ठा नहीं है। वे हिन्दू धर्म की त्रुटियों और कुसंस्कारों को बिना किसी हिचक के स्वीकार करते थे तथा ईसाई धर्म के प्रति अनुरक्त थे। इसके विपरीत स्वामीजी हमेशा हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते रहे और उन्होंने ईसाई मिशनरियों के दोषों को प्रदर्शित करते हुए उनकी निन्दा की। इसीलिए स्थानीय अखबारों ने स्वामीजी की प्रधानता स्वीकार नहीं की। उदाहरण के तौर पर मैं यह कह सकता हूँ कि

स्वामीजी के प्रथम भाषण के आरम्भ में 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स ऑफ अमेरिका' सम्बोधन सुनकर श्रोताओं ने तुमुल करतल-ध्वनि से स्वामीजी का जो अभिनन्दन और संवर्धन किया था वह धर्म-महासभा के आधिकारिक प्रतिवेदन में स्पष्ट अंकित है। शिकागो के बाहर के अखबारों में तथा शिकागो के ही कुछ अन्य अखबारों में इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए यह कहा गया है कि स्वामीजी धर्म-महासभा के श्रेष्ठ वक्ता हैं। अतः इस बात का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि पूर्वोक्त दोनों अखबारों ने स्वामीजी की प्रशंसा का उल्लेख क्यों नहीं किया और अन्य दो भारतीय प्रतिनिधियों की वक्तृता की मुक्तकण्ठ से क्यों प्रशंसा की। मैंने यह भी देखा कि इन दोनों अखबारों में धर्म-महासभा के बाहर आयोजित सामाजिक अनुष्ठानों के सन्दर्भ में अन्य दो-चार भारतीय प्रतिनिधियों की चर्चा तो की गयी है पर स्वामीजी का नामोल्लेख तक नहीं किया गया है। सत्य को दबाया नहीं जा सकता। इसीलिए शिकागो की धर्म-महासभा के प्रसंग में आज स्वामी विवेकानन्द का नाम जगद्विख्यात है, और जिन अन्य भारतीय प्रतिनिधियों की शतमुखी प्रशंसा उन दोनों अखबारों ने की थी उनका नाम तक बहुत से लोग नहीं जानते।

शिकागो के एक अखबार में स्वामीजी की एक ऐसी वक्तृता का सारांश प्रकाशित हुआ है जिसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं हुआ है। १९ सितम्बर १८९३ को

स्वामीजी ने हिन्दू धर्म पर अपना निबन्ध पढ़ा था। यह महासभा के प्रतिवेदन मे प्रकाशित है। किन्तु २० सितम्बर के 'शिकागो डेली ट्रिब्यून' में मैंने पढ़ा कि अपना निबन्ध पढ़ने के पहले स्वामीजी ने कुछ मिनट तक मौखिक अभिभाषण दिया था। इसका सार एक अखबार ने विस्तृत रूप में तथा दूसरे अखबार ने संक्षिप्त रूप में प्रकाशित किया है। स्वामीजी ने जो अभिभाषण दिया था उसका सार निम्नलिखित है :—

"मैं प्रतिदिन इस सभा में ईसाई धर्म की महिमा सुनता आ रहा हूँ। हमें बार बार यह उपदेश दिया गया है कि चूँकि ईसाई लोग धन और सम्मान में सबसे अधिक शक्तिशाली हैं इसलिये हम सबको ईसाई धर्म स्वीकार कर लेना चाहिये। पर चारों ओर दृष्टि डालने पर हमें क्या दिखायी देता है? ईसाई जातियों में सबसे अधिक सम्पदाशाली अग्रेजों ने पचीस करोड़ एशियावासियों को पैरों-तले कुचल डाला है। इतिहास के पन्नों को उलटने पर हम देखते हैं कि स्पेन मेक्सिको पर विजय प्राप्त करके ही बड़ा हुआ है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि ईसाई जाति मनुष्यों का गला काटकर ही धनवान बनी है। इस उपाय का अवलम्बन करके हिन्दू कभी भी शक्तिशाली और समृद्ध बनने की चेष्टा नहीं करेगा। आज इस सभा में बैठकर मैंने इस्लाम धर्म की बड़ी प्रशंसा सुनी है पर मुसलमानों की तलवार भारत को नष्ट करने की साधना में ही लगी है। रक्तपात और

तलवार की सहायता से हिन्दू बड़ा नहीं होना चाहता। हिन्दू धर्म की भित्ति है प्रेम और प्यार।"

इस वक्तृता को पढ़कर मैं विस्मय से अभिभूत हो उठा। मैंने स्वामीजी से सम्बन्धित किसी भी किताब में इस उक्ति को नहीं पढ़ा था। मैंने यह कभी भी नहीं सोचा था कि स्वामीजी ने ऐतिहासिक और राजनीतिक सन्दर्भ के सत्य को इतने साहस के साथ व्यक्त किया होगा। मैंने इस वक्तृता की एक प्रतिलिपि न्यूयार्क में स्वामी निखिलानन्दजी के पास भेजी। उन्होंने कुछ दिनों पूर्व स्वामीजी की जो चमत्कारपूर्ण जीवनी लिखी थी उसमें इस वक्तृता का उल्लेख नहीं था। स्वामी निखिलानन्दजी ने मुझे लिखा कि वे इसके पूर्व इस वक्तृता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं बेलुड़ मठ से लिखकर पूछूँ कि क्या वहाँ इस सम्बन्ध में कोई जानकारी मिल सकती है। मैंने स्वामी माधवानन्दजी को पत्र लिखा। उन्होंने भी मुझे बताया कि उन्होंने इस वक्तृता की बात नहीं सुनी है। अतः शिकागो के अखबार ने इस अमूल्य निधि की रक्षा कर हमारा जो उपकार किया है उसके बदले मैं उसके सैकड़ों अपराध क्षमा कर सकता हूँ। इसके कुछ दिनों बाद मेरी लुइस बर्क की 'स्वामी विवेकानन्द इन अमेरिका' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें लेखिका ने स्वामीजी की उक्त वक्तृता का सारांश तो दिया है पर जिन अंशों को मैंने उद्धृत किया है वह सम्भवतः

उनकी दृष्टि में न आया होगा। जो हो, यह वक्तृता स्वामीजी के राजनैतिक मतवाद पर नूतन आलोकपात करती है।

शिकागो में भगवान् श्रीरामकृष्ण देव और स्वामी विवेकानन्द के कुछ अमरीकी भक्तों से मेरा परिचय हुआ था। मैं उनकी निष्ठा और प्रगाढ़ भक्ति को देखकर बहुत विस्मित हुआ। तब स्वामी विश्वानन्दजी शिकागो-स्थित रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष थे। मेरे लौटने के कुछ वर्ष बाद उन्होंने अपनी देह छोड़ दी। मिशन के शिकागो-केन्द्र में मेरा जिन लोगों से साक्षात्कार हुआ था उन सबकी विश्वानन्दजी पर अटूट श्रद्धा-भक्ति थी। वे उनसे निरन्तर ठाकुर की जीवनी और उपदेश सुनाने का आग्रह करते रहते थे। मेरा एक मध्यवित्त परिवार की दो महिलाओं से भी परिचय हुआ। उन्होंने स्वामी विश्वानन्दजी के माध्यम से मुझसे अनुरोध किया कि मैं सप्ताह में एक दिन उनके घर पर रात्रि का भोजन करूँ। स्वामी विश्वानन्दजी ने मुझे बताया कि उन्हें इस शर्त पर सहमति दी है कि वे लोग मुझे रात्रि को ग्यारह बजे तक हॉस्टल वापस भेज देंगी। उस परिवार की दो महिलाएँ और उनके एक भाई ठाकुर और स्वामीजी के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न पूछते थे और मैं जो कुछ कहता था उसे बड़ी लगन से सुनते थे। उनकी एक बार भारत आने की बड़ी इच्छा थी। अर्थाभाव के कारण उनकी यह इच्छा पूरी नहीं हो पायी

थी और उन्हें इसका बड़ा दुःख था। यद्यपि वे तीनों नौकरी करते थे पर उनका समूचा वेतन खर्च हो जाता था। वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर पाते थे कि किसी दिन भारत आने के लिए उपयुक्त राशि का संचय कर पायेंगे। इस दुःखपूर्ण बात को वे अनेक प्रकार से बताया करते थे।

मेरे वहाँ रहते श्रीरामकृष्ण देव का जन्मोत्सव मनाया गया। एक होटल में नैष भोजन के उपरान्त ठाकुर और स्वामीजी के सम्बन्ध में वक्तृता का आयोजन किया गया था। लगभग १५० अभ्यागतों ने पाँच डालर का दान-पत्र खरीदकर इस उत्सव में योग दिया था। इनमें अनेक महिलाएँ थीं तथा २५-३० महिलाएँ तो बंगाली लड़कियों के समान साड़ी पहने हुए थीं। उनमें से एक ने मुझसे पूछा कि साड़ी का आँचल बायें कन्धे पर रखा जाय या दाहिने पर। यद्यपि इस विषय में मेरी कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी पर मैं 'नहीं जानता' कहकर कुण्ठित नहीं होना चाहता था। इसलिए मैंने कहा, बायें कन्धे पर। देश लौटने पर मुझे मालूम हुआ कि मेरा निर्देश ठीक ही था। एक अन्य महिला ने मुझसे पूछा कि आँचल बार-बार फिसल जाता है, इसके लिए क्या किया जाय? इस पर मैंने अविलम्ब उत्तर दिया कि सेफ्टीपिन का प्रयोग करना अच्छा रहेगा। यद्यपि ये महिलाएँ हमारे देशीय परिधान की अभ्यस्त नहीं थीं फिर भी उन्होंने ठाकुर के प्रति श्रद्धा प्रकट

करने के लिये बंगाली लड़कियों के समान परिधान धारण करने का जो आग्रह प्रकट किया था उसे देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आहार के लिये वहाँ पाश्चात्य पद्धति के डिनर की व्यवस्था थी। भोजन के बाद कुछ व्याख्यान हुए। वहाँ के विश्वविद्यालय के एक अमरीकी प्राध्यापक ने भी भाषण दिया।

न्यूयार्क आश्रम के अध्यक्ष स्वामी निखिलानन्दजी ने मुझे शारदीया पूजा के अवसर पर आमन्त्रित किया था। वहाँ पूजा की विधिवत् व्यवस्था की गयी थी। प्रायः २५-३० अमरीकी सज्जन और महिलाएँ वहाँ उपस्थित थे। अनेक लोग ४०-५० मील दूर से पूजा देखने के लिये आये थे। पूजा और नैवेद्य का आयोजन दो महिलाओं ने किया। एक युवक ने धोती-चादर पहनकर अंजलि दी। अंग्रेजी अक्षरों में लिखे संस्कृत के मन्त्र तथा बंगला गीतों की एक-एक प्रति सबको दी गयी तथा सबने समवेत स्वर में आवृत्ति की। पूजा के बाद प्रसाद बाँटा गया।

न्यूयार्क में एक और आश्रम है जिसके अध्यक्ष स्वामी पवित्रानन्दजी हैं। दोनों आश्रमों में दो शिक्षित अमरीकी महिलाएँ भोजन पकाने और परोसने आदि का कार्य करती हैं। आहार के बाद मैंने देखा कि सब लोग अपने-अपने बर्तनों को धोने ले जा रहे हैं। मैंने भी अपने बर्तन को धोने का प्रयास किया पर उक्त दोनों महिलाओं ने बर्तन मेरे हाथ से लेकर स्वयं धो दिया।

इनमें से एक महिला कॉलेज में प्राध्यापिका थीं। पर वह नौकरी से त्यागपत्र देकर आश्रम में नया जीवन बिता रही थीं।

जब मैं फिलाडेल्फिया में था तब मेरा श्री ननीगोपाल बोस नामक सज्जन से परिचय हुआ। वे स्वदेशी आन्दोलन के समय क्रांतिकारी थे तथा पुलिस से बचने के लिये अमेरिका भाग आये थे। यहाँ वे पचास वर्षों तक लगातार दुःख झेलते रहे और अन्त में उनका व्यवसाय जम गया। अब उनका निजी मकान और मोटर है तथा वे वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं। शहर से प्रायः तीस-चालीस मील दूर उनका मकान है। वे मुझे अपने घर ले गये। उनकी पत्नी अमरीकी हैं तथा उन्होंने रामकृष्ण मिशन में दीक्षा ली है। वे मुझसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुईं। उन्होंने मुझे अपने गुरुदेव के सम्बन्ध में अनेक बातें बतायीं और उनका चित्र भी दिखाया। चित्र देखते ही मैं कह उठा, "ये तो मेरे बाल्य-बन्धु हैं। हम दोनों ने एक साथ पढ़ाई की है और एक ही कमरे में दो साल रहे हैं।" यह सुनकर उन्होंने मेरे प्रति जिस प्रकार श्रद्धा-भक्ति का प्रदर्शन किया उससे मैं संकुचित हो उठा। मैंने कहा, "आप यह मत भूलिये कि स्वामी यतीश्वरानन्दजी आपके गुरु हैं और यद्यपि उनके विद्यार्थी-जीवन में मैं उनका मित्र रह चुका हूँ पर अब मुझमें और उनमें जमीन-आसमान का अन्तर है।" फिर भी उन्होंने मेरा जो सत्कार किया उसे मैं कभी

भूल नहीं पाऊँगा। मैंने सारा दिन वहीं बिताया। उन्होंने मुझे देशी दाल, भात और तरकारी बनाकर खिलाया। मध्याह्न भोजन के बाद ठाकुर, स्वामीजी और उनके गुरुदेव के सम्बन्ध में चर्चा होने लगी। हम लोगों की बातें सुनते-सुनते बोस साहब को प्रायः झपकी लग जाया करती थी। उनकी पत्नी मुझे संकेत से बताती थीं कि उन्हें ये सब बातें अच्छी नहीं लगतीं। उन्होंने इस बात पर दुःख भी व्यक्त किया। वे भारत आयी थीं तथा उन्होंने जयरामवाटी का दर्शन भी किया था। ये सब बातें कहते-कहते वे भक्ति से गद्‌गद हो उठती थीं।

स्वामी अखिलानन्दजी बोस्टन आश्रम के अध्यक्ष थे। यह आश्रम एक बड़ी नदी के तट पर स्थित है तथा बड़ा सुन्दर है। स्वामीजी ने मुझे बताया कि एक महिला इस आश्रम का सम्पूर्ण व्यय उठा रही हैं। बातचीत के दौरान में उन्होंने कहा कि बोस्टन विश्वविद्यालय का परिक्षेत्र बढ़ते-बढ़ते आश्रम के समीप तक पहुँच गया है तथा विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने आश्रम के भवन को एक लाख डालर में खरीदने का प्रस्ताव भेजा है पर उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया है। स्वामी अखिलानन्दजी अब नहीं रहे।

अमेरिका का परिभ्रमण करने के बाद मेरा यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में अभी भी कुछ पुरुषों और महिलाओं का ऐसा दल है जो, यद्यपि संख्या में कम है, स्वामी विवेकानन्द और उनके माध्यम से

श्रीरामकृष्ण देव के प्रति गम्भीर श्रद्धा-भक्ति रखता है। भारत की आध्यात्मिक चेतना के सम्बन्ध में इन लोगों की बड़ी ऊँची धारणा है।

इस प्रसंग में मैं अपने एक जातीय कलंक का उल्लेख कर इस स्मृति-कथा का उपसंहार करूँ। अमेरिका के अनेक शिक्षित लोगों की यह धारणा है कि प्रत्येक भारतवासी स्वामी विवेकानन्द और उनके द्वारा प्रचारित धर्म एवं ज्ञान की जानकारी रखता है। अतः ऐसे अमरीकी, भारतीयों से परिचित होते ही, उनसे इस विषय में बहुत-कुछ जानना चाहते हैं। पर अमेरिका के अधिकांश प्रवासी भारतीय (और यदि मैं ९९ प्रतिशत भारतीय कहूँ तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी) इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं जानते और कुछ भी नहीं बता पाते। अनेक भारतीयों ने मुझे बताया कि यद्यपि अपनी अज्ञानता स्वीकार करते हुए उन्हें बड़ी लज्जा का बोध होता है पर उन्हें कॉलेज या अन्यत्र इसकी शिक्षा नहीं दी जाती। देश लौटकर मैंने इस समस्या की ओर भारत सरकार के कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और उनके समक्ष यह प्रस्ताव भी रखा कि भारत सरकार जिन सैकड़ों व्यक्तियों को छात्रवृत्ति देकर विभिन्न विषयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमेरिका भेजती है उन्हें सामान्य रूप से हिन्दू धर्म और सभ्यता का तथा विशेष रूप से श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के सम्बन्ध में ज्ञान भी प्रदान करने की

व्यवस्था करे। यदि कुछ विद्वान् वक्ताओं के दस-दस व्याख्यानों का आयोजन किया जाय और दो-चार सहज-बोध्य ग्रन्थों को पढ़ने का निर्देश दिया जाय तो यह कार्य बड़ी आसानी से हो सकता है। कहना न होगा कि मेरे सुझाव का कोई फल नहीं निकला !

●

योग की वैज्ञानिकता-२

डा. अशोक कुमार बोरदिया

४

मानव के अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करने के कृत्रिम उपायों की असफलता का अध्ययन पिछले लेख में करने के बाद अब हम भारतीय प्रणाली का अवलोकन करें। अध्यात्मवाद एवं योग-मनोविज्ञान का तर्क आधुनिक शरीर-व्यवहार शास्त्रियों के तर्क से कुछ भिन्न है। दो प्रतिद्वन्द्वियों के बीच संघर्ष को समाप्त करने का एक उपाय यह भी तो हो सकता है कि उनके बीच स्थायी मैत्री स्थापित कर दी जाय। मनुष्य की भावनाएँ, वासनाएँ एवं जन्मजात प्रवृत्तियाँ अपने आप में बुरी नहीं हैं किन्तु जब उनका प्रयोग अनियंत्रित रूप से स्वार्थ के लिये तथा समाज के अहित के लिये होता है तब वे हमें पशु-तुल्य बना देती हैं। जब धर्मशास्त्र हमारी आसक्ति को प्रभु की ओर मोड़ने, कामना का लक्ष्य विषय-भोगों के बदले विवेक, ज्ञान और भक्ति को बनाने, तथा क्रोध को अन्य सभी दिशाओं से हटाकर अहंकार, लोभ, मोह, आदि अपनी ही कुप्रवृत्तियों पर केन्द्रित करने का उपदेश देते हैं तब वे मनुष्य की पशु-प्रवृत्तियों को दैवी प्रवृत्ति में परिणत कर मानसिक संघर्षों को शान्त करने की ही बात करते हैं।

मानव की दैवी और पाशविक प्रवृत्तियों के बीच

निरन्तर चलनेवाले संघर्ष को समाप्त करनें की जो योग-मनोविज्ञान की पद्धति है उसे समझने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि संस्कार एवं जन्मजात प्रवृत्तियों का निर्माण कैसे होता है। कोई भी कार्य यदि निरन्तर किया जाये तो अन्त में वह स्वाभाविक होकर जन्मजात प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेता है। उदाहरणार्थ, जब हम हारमोनियम बजाना सीखते हैं तो प्रारम्भ में सफेद और काले पर्दों पर बड़ी सावधानी से उँगलियाँ रखनी पड़ती हैं। किन्तु कुछ वर्षों के अभ्यास के बाद इधर हम पुस्तक में लिखी भजन की स्वर-लिपि को देखते हैं और उधर हमारी उँगलियाँ हारमोनियम पर अपने आप चलने लगती हैं। यह कार्य अभ्यास के द्वारा हमारे लिये जन्मजात प्रवृत्ति (instinct) में परिणत हो जाता है, स्वाभाविक (automatic) हो जाता है। आज जिन क्रियाओं को हम स्वाभाविक (automatic) कहते हैं, वे सब पहले तर्कपूर्वक ज्ञान की क्रियाएँ थीं। योगियों की भाषा में जन्मजात प्रवृत्ति तर्क की क्रम-संकुचित अवस्था मात्र है (Instinct is involved reason) ‡। इसी मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर समस्त आध्यात्मिक साधनाएँ आधारित हैं। यदि निरन्तर प्रयत्नपूर्वक शुभ, धार्मिक एवं ईश्वरीय विचारों को मन में उठाया जाय और तदनुरूप क्रियाएँ की जायँ तो अभ्यास के द्वारा शुभ संस्कारों का निर्माण होगा। कह चुके हैं कि विचार और तर्कजन्य क्रियाओं

‡ विवेकानन्द साहित्य, प्रथम खड पृ. १५६।

का आधार प्री-फ्रॉन्टल एरिया है तथा संस्कारों और जन्मजात प्रवृत्तियों का केन्द्र सब-कॉर्टिकल एरिया है। तो उपर्युक्त अभ्यास से प्री-फ्रॉन्टल एरिया की क्रियाओं का प्रभाव सब-कॉर्टिकल एरिया पर पड़ेगा जिसके फल-स्वरूप उसमें व्यावहारिक परिवर्तन (functional change) होगा। क्या वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित तर्क की सहायता से इसे सिद्ध किया जा सकता है ?

प्री-फ्रॉन्टल और सब-कॉर्टिकल एरिया के बीच के स्नायु-तन्तुओं के आपरेशन (Prefrontal leucotomy) ‡ का उल्लेख पिछले लेख में किया जा चुका है। इस आप-रेशन से सब-कॉर्टिकल एरिया (निम्न मस्तिष्क) प्री-फ्रॉन्टल एरिया (उच्च मस्तिष्क) के प्रभाव से मुक्त हो जाता है। दूसरे शब्दों में, इस आपरेशन के द्वारा निम्न मस्तिष्क के शुद्ध स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। वैज्ञानिक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि प्री-फ्रॉन्टल ल्यूकोटॉमी के बाद "more automatic forms of intelligence were relatively well-preserved together with attention and memory, but higher forms of reasoning, thinking in symbols and judgment deteriorated." § भावार्थ यह कि स्वभावतः, यंत्रवत् जो विचार हमारे मन में उठते हैं, हमारा चिन्तन स्व-चलित रूप से जिस

‡ Applied Physiology by Samson Wright, 9th Ed. P. 673.

§ Diseases of the Nervous System by Sir Russle 5th Ed. P. 934.

दिशा में प्राय: होता है तथा जिस प्रकार की तार्किक क्रियाओं को करने में हम अभ्यस्त हो गये हैं, वे इस आपरेशन से प्रभावित नहीं होतीं। किन्तु उच्च प्रकार की तार्किक क्रियाओं में तथा संकेतों में चिन्तन एवं निर्णयात्मक बुद्धि की क्षति हो जाती है। उदाहरणार्थ, यदि एक बालक में जिसका गणित का अध्ययन प्रारम्भ ही हुआ है, यह आपरेशन कर दिया जाये तो उसका गणित का यह प्रारम्भिक ज्ञान जो अभी उसके लिये स्वाभाविक नहीं हुआ है और जिसके लिये उसे उच्च मस्तिष्क की क्रियाओं की आवश्यकता होती है, नष्ट हो जायेगा। यदि इसी बालक में प्री-फ्रॉन्टल ल्यूकोटॉमी का आपरेशन दस वर्षों तक गणित पढ़ने के बाद किया जाये तो सम्भवत: वह हाल ही में सीखे गये कठिन सिद्धान्तों को, जिनका उपयोग करने में उसे प्रयत्नपूर्ण ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, भूल जायेगा। परन्तु जोड़, घटाना, गुणा, भाग आदि गणित की सामान्य क्रियाएँ करने में वह समर्थ होगा क्योंकि दस वर्ष तक निरन्तर अभ्यास के फलस्वरूप वे उसके लिये स्वचलित हो गयी हैं। ऐसे किसी अध्यापक में जिसने कई वर्षों तक उच्चतर गणित पढ़ाया हो इस प्रकार के आपरेशन का प्रभाव भिन्न होगा। आपरेशन के बाद वह व्यक्ति स्वभावगत रूप से गणित पढ़ाने में समर्थ तो रहेगा किन्तु कठिन सवालों को करने अथवा नवीन ज्ञान प्राप्त करने की उसकी क्षमता जाती रहेगी।

यदि यही प्री-फ्रॉन्टल ल्यूकोटॉमी का आपरेशन किसी साधक पर किया जाये जो आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में हो तथा जिसकी साधनाएँ स्वाभाविक नहीं बन पायी हों, तो उसके बाह्य क्रिया-अनुष्ठान तो बने रहेंगे किन्तु मन पर उसका नियंत्रण जाता रहेगा। कारण यह कि मन को एकाग्र करने के लिये अभी उसे प्रयत्न पूर्वक उच्च बुद्धि का उपयोग करना पड़ता है। आपरेशन के उपरान्त ऐसा साधक स्वचलित रूप से ध्यान के लिये बैठेगा तो, परन्तु मन एकाग्र नहीं होगा; भजन तो वह गायेगा पर भक्ति से हीन होगा, और उसकी पूजा भावरहित बाह्य आडम्बर मात्र होगी। लेकिन ऐसा व्यक्ति जो समाधि की अवस्था को प्राप्त कर चुका हो और गम्भीर ध्यान करना जिसकी आदत बन गयी हो, आपरेशन के बाद स्वचलित रूप से, ईश्वर-चिन्तन करने में समर्थ रहेगा। इन्हीं लोगों के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने कहा है कि ये लोग उस पेशेवर नर्तक के समान हैं जिसके पैर कभी बेताल में नहीं पड़ते। एक सन्त का दृष्टान्त इस संदर्भ में उल्लेखनीय है जो मस्तिष्क की घातक चोट के कारण बेहोश होने पर भी अचेतन अवस्था में मुख से मंत्रजप करते रहे।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि उच्च मस्तिष्क द्वारा प्रयत्न पूर्वक की गयी गणित सीखने, मन को एकाग्र करने आदि तार्किक क्रियाओं का स्थायी प्रभाव निम्न मस्तिष्क पर पड़ता है। लगातार दीर्घकाल तक की गयी

उच्च मस्तिष्क की क्रियाओं का भार निम्न मस्तिष्क मानो स्वयं ले लेता है। उसमें क्रियात्मक (functional) परिवर्तन होता है और वह उच्च मस्तिष्क के अनुरूप ही कार्य करने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च और निम्न मस्तिष्क की क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित करने के योग-मनोविज्ञान के उपाय की पुष्टि आधुनिक विज्ञान भी करता है।

५

मानव के मनोविकास का दूसरा क्रियात्मक परिवर्तन (functional change) यह होता है कि उसकी मानसिक प्रतिपेक्ष-क्रियाओं का केन्द्र (centre of psychic or emotional reflexes) § सब-कॉर्टिकल एरिया से हटकर प्री-फ्रॉन्टल एरिया में पहुँच जाता है। इस परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव जानने के पूर्व प्रतिपेक्ष-क्रियाएँ क्या हैं यह समझ लेना आवश्यक है।

प्रतिपेक्ष-क्रिया (reflex action) किसी संवेदनिक उत्तेजना (stimulus) के प्रति तत्काल होने वाली (direct) अनैच्छिक (invotuntary) और जन्मजात (unlearnt) प्रतिक्रिया है †। उदाहरणार्थ, जब कभी हम पढ़ते होते हैं, तब पैर पर मच्छर काटने से उसे हटाने के लिये, इस पीड़ा की प्रतिक्रिया के रूप में अनायास ही हमारा हाथ

§ Applied Physiology by Samson Wright, 9 th Ed. pp 661 to 668.

† वही, पृष्ठ ५२६

बढ़ जाता है; किन्तु हमारा ध्यान अध्ययन में ही लगा रहता है । इस क्रिया को प्रतिपेक्ष-क्रिया कहते हैं । जलने पर हाथ को खींचना, पलकों का गिरना और उठना, खाँसना, छींकना, आदि जो अनेकों क्रियाएँ हम प्रतिदिन करते हैं वे सारी प्रतिपेक्ष-क्रियाएँ (reflex actions) हैं ।

प्रत्येक प्रतिपेक्ष-क्रिया का एक चाप (arc) होता है। ज्ञानेन्द्रिय से स्नायु-केन्द्र में होते हुए मांश-पेशी तक जो संवेदना (nerve impulse) का मार्ग है, वह प्रतिपेक्ष-चाप (reflex arc) कहलाता है। स्नायविक संवेदना (nerve impulse) त्वचा, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय से होकर अन्तर्गामी ज्ञानतन्तु (afferent neurone) के माध्यम से स्नायु-केन्द्र (nerve centre) तक जाती है । केन्द्र इस बाह्यागत संवेदना की प्रतिक्रिया का निर्णय करता है । तत्पश्चात् यह आदेशात्मक संवेदना के रूप में बहिर्गामी चेष्टा-तन्तुओं (efferent neurone) के द्वारा कर्मेन्द्रिय तक पहुँचती है, जो उसे कार्यरूप में परिणत करती है ।

प्रतिपेक्ष-क्रियाएँ दो प्रकार की होती हैं। १) शारीरिक (Physical) जो जन्मजात एवं अनैच्छिक होती हैं। २) मानसिक (Psychic) जो सीखी जा सकती हैं, तथा आंशिक रूप से इच्छाशक्ति के अधीन रहती हैं (Semi-Voluntary) । मच्छर के काटने पर पैर का हटाना पूर्णतः शारीरिक क्रिया है । बालक का खिलौना देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा से हाथ बढ़ाना ऐसी स्वचलित क्रिया है जिसमें वस्तु की कामना रूपी मानसिक अंग भी

सम्मिलित है। इस प्रकार की क्रिया मानसिक प्रतिपेक्ष-क्रिया कहलाती है।

अधिकांश मानसिक स्वचलित क्रियाओं का केन्द्र सब-कॉर्टिकल एरिया (निम्न मस्तिष्क) होता है। इसका मनोवैज्ञानिक परिणाम यह होता है कि व्यक्ति की समस्त क्रियाएँ, स्वचलित रूप से, अपनी वासनाओं, इच्छाओं एवं पशुप्रवृत्तियों की पूर्ति के लिये होती हैं। जैसे जैसे मनुष्य का सांस्कृतिक विकास (cultural evolution) होता है और वह अधिकाधिक सभ्य (cultured) होने लगता है, वैसे वैसे इन क्रियाओं में उच्च मस्तिष्क द्वारा परिचालित तर्क, विवेक, विचार आदि का हस्तक्षेप होने लगता है। उदाहरणार्थ, बालक जब बहुत छोटा होता है तब खिलौना देखते ही बिना विचारे हाथ बढ़ाता है। कुछ बड़ा होने पर वह खिलौना देखकर, उसे पाने की इच्छा होते हुए भी, 'यह दूसरे का है, वह नहीं देगा, किस उपाय से पाया जा सकता है?' इत्यादि विचार करने लगता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यदि बालक का मन अधिक विकसित हो तो उसमें यह विचार आयेगा कि दूसरे का खिलौना नहीं लेना चाहिये। शरीर-व्यवहार-विज्ञान की भाषा में, खिलौना देखने पर निम्न मस्तिष्क में स्वाभाविक रूप से उसे प्राप्त करने की जो कामना उठी, उस पर उच्च मस्तिष्क द्वारा निर्देशित विपरीत भावना का प्रभाव पड़ा। सवेदना निम्न मस्तिष्क तक ही न रुककर उच्च मस्तिष्क तक पहुँच

गयी जो अब इस प्रतिपेक्ष-क्रिया का संचालन करने लगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिपेक्ष-चाप का केन्द्र यदि उच्च मस्तिष्क बन जाय तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त प्रत्येक संवेदना स्नायु-तन्तुओं के माध्यम से होती हुई, निम्न मस्तिष्क में बिना रुके, सीधे उच्च मस्तिष्क तक पहुँच जायेगी। इसका आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक परिणाम अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण होगा। प्रत्येक संवेदना की प्रतिक्रिया भावना-जनित न होकर विचार-जनित होगी, आवेग-चालित न होकर विवेक-चालित होगी। योग की समस्त साधनाओं का प्रयोजन भी उच्च मस्तिष्क को मानसिक प्रतिपेक्ष-क्रियाओं का केन्द्र बना देना है, जिसके फल-स्वरूप हमारे समस्त शुभ विचार एवं क्रियाएँ चेष्टित न होकर स्वाभाविक हो जायें; इच्छित (voluntary) न होकर अनैच्छिक (involuntary) बन जायें और प्रतिपेक्ष-क्रियाओं (reflex actions) में परिणत हो जायें।

६

मानव के विकास का तीसरा स्नावयिक (neuro-logical) परिणाम रचनात्मक (structural) है। शरीर-क्रिया-विज्ञान (Physiology) और रचना-विज्ञान (Anatomy) के आधुनिकतम अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ है कि जैसे जैसे मनुष्य ज्ञानार्जन करता है वैसे वैसे उसके मस्तिष्क के स्नायु-तन्तुओं (neurones) के बीच के सम्बन्धों (synoptic connections) में उत्तरोत्तर वृद्धि

होती है।* कुछ वैज्ञानिकों की यह मान्यता है कि इससे नवीन स्नायु-तन्तुओं का निर्माण होता है तथा पुराने स्नायु-तन्तुओं की शाखाओं में वृद्धि होती है, किन्तु इस धारणा की पुष्टि अभी तक नहीं हो सकी है।

उच्च और निम्न मस्तिष्क के स्नायविक सम्बन्धों में वृद्धि का व्यावहारिक (Functional) परिणाम यह होगा कि उन दोनों की क्रियाओं में अधिक सामंजस्य स्थापित हो जायेगा। वे दो भिन्न अंगों के रूप में कार्य करने के बदले एक इकाई के रूप में कार्य करने लगेंगे। इस परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक प्रभाव भावना और विचार, बुद्धि और हृदय के समन्वय के रूप में होगा। व्यक्ति अपनी भावनाओं, इच्छाओं और वासनाओं को निम्न मस्तिष्क से उठते ही, उनके क्रिया-रूप में परिणत होने के पूर्व, जान लेगा और उन्हें नियंत्रित करने में समर्थ होगा। यही नहीं, वह उच्च मस्तिष्क के साथ निम्न मस्तिष्क की घनिष्ठता के कारण समस्त वासनाओं का उदात्तीकरण (Sublimation) करने में और उनको आध्यात्मिक दिशा प्रदान करने में सफल होगा।

७

पूर्वोक्त वृत्तान्त में हमने योग द्वारा प्रतिपादित निर्द्वन्द्व सुख-प्राप्ति के चित्त-वृत्ति-निरोध रूपी उपाय

---

* 'Into the Molecules of the Mind' by Lawrence Lessing, appeared in "Life", Vol. 41, No. 3, Aug. 8, 1966, P. 64.

की यथार्थता को वैज्ञानिक दृष्टि से सिद्ध करने का प्रयास किया। योगशास्त्र की यह दृढ़ मान्यता है कि हमारी समस्त वृत्तियों को उनकी सूक्ष्मावस्था में ही उखाड़ फेंकना आवश्यक है। हम सामान्यतः केवल स्थूल रूप में प्रकाशित चित्तवृत्तियों को ही समझ सकते हैं और उनका अनुभव कर सकते हैं। किन्तु हममें जो सूक्ष्म वृत्तियाँ और संस्कार हैं, उन्हें पकड़कर नष्ट या परिवर्तित कर देना योग का लक्ष्य है।

पतंजलि अपने योगसूत्रों में दो प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख करते हैं--क्लिष्ट, जो अविद्या, अज्ञान और बन्धन का कारण होती हैं, तथा अक्लिष्ट, जो अज्ञान का नाश कर मुक्ति प्रदान करती हैं। इनकी तुलना क्रमशः मानव की पाशविक एवं दैवी प्रवृत्तियों से की जा सकती है। जिस प्रकार पैर में लगे एक काँटे को दूसरे काँटे से निकालने के बाद दोनों को त्याग दिया जाता है, उसी प्रकार पहले क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध अक्लिष्ट वृत्तियों की सहायता से करने के बाद अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध कर देना योग का लक्ष्य है। प्रस्तुत लेख में इसी लक्ष्य के भौतिक तथा स्नायविक (Neurological) आधार को समझाने का प्रयत्न किया गया है। आगामी लेखों में चित्त की विभिन्न वृत्तियों का वैज्ञानिक भाषा में वर्णन करने का प्रयास किया जायेगा और योग के उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति के उपायों पर विचार किया जायेगा।

हमने इन दो लेखों में शरीर-व्यवहार और रचना-विज्ञान (Anatomy and Physiology) के अनेक पेचीदा सिद्धान्तों को सर्वसामान्य पाठकों हेतु सरल बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पर यह कह दें कि मानव-स्नायुतंत्र (Human Nervous System) की बनावट और क्रिया इतनी सरल नहीं है जितनी कि यहाँ वर्णित है। कुछ जानकार विद्वानों को ऐसा भी प्रतीत हो सकता है कि तथ्यों को अपनी आवश्यकतानुसार तोड़ा-मरोड़ा गया है। पर लेखक यह विश्वास दिलाना चाहता है कि विषय के सरलीकरण के अतिरिक्त मूल सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

●

★ मनुष्य ही परमात्मा का सर्वोच्च साक्षात् मन्दिर है। इसलिए साक्षात् देवता की पूजा करो।

–स्वामी विवेकानन्द

★ स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति॥

–अपने अपने कर्म का फल एक धरोहर के समान है, जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर यह काल इस कर्म-फल को प्राणि-समुदाय के पास खींच लाता है।

–महाभारत (शान्तिपर्व)

साधु नाग महाशय

डा. नरेन्द्र देव वर्मा

एक बार सुरेशचन्द्र दत्त अपने मित्र के साथ दक्षिणेश्वर के सन्त श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन के लिये कलकत्ते से रवाना हुए। वे यह नहीं जानते थे कि दक्षिणेश्वर का रास्ता कौन सा है पर उन्हें यह अवश्य मालूम था कि कलकत्ते के उत्तर में पुण्यतोया भागीरथी के तट पर यह स्थान बसा हुआ है जहाँ भक्तिमती रानी रासमणि ने शिव मन्दिर और काली मन्दिर का निर्माण कराया है। सुरेश ब्राह्मसमाजी थे तथा उन्होंने ब्राह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता श्री केशवचन्द्र सेन से सुना था कि दक्षिणेश्वर में एक परमहंस देव निवास कर रहे हैं जिनकी आध्यात्मिक दशा अत्युच्च है और जो निरन्तर ईश्वरीय भाव में निमग्न रहा करते हैं। जब उन्होंने यह समाचार अपने मित्र को बताया तब वे भी दक्षिणेश्वर के पुजारी के दर्शन के लिये उत्सुक हो उठे। इसी प्रयोजन से वे दोनों अनुमान के सहारे दक्षिणेश्वर की ओर चल पड़े तथा थोड़ा-बहुत भटकने के बाद वे वहाँ पहुँच गये। किन्तु जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि श्रीराम-कृष्ण वहाँ नहीं हैं तब उन्हें बड़ी निराशा हुई और वे बुझे मन से लौटने लगे। इतने में उन्होंने देखा कि कोई

व्यक्ति उन्हें एक कमरे के भीतर बुला रहा है। वे उस कमरे में गये और उन्होंने आश्चर्यचकित होकर देखा कि युगावतार श्रीरामकृष्ण एक छोटी चौकी पर बैठे हुए हैं। उन्हें किसी ने यह मिथ्या सूचना दे दी थी कि वे वहाँ नहीं हैं। सुरेशचन्द्र ने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया पर जब उनके मित्र उनकी चरण-धूलि ग्रहण करने के लिए आगे बढ़े तब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। इससे उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ और वे सोचने लगे कि सम्भवतः मैं इतना पवित्र नहीं हूँ कि उनके चरणों का स्पर्श कर सकूँ। फिर श्रीरामकृष्ण देव ने उनका परिचय पूछा; और जब उन्हें मालूम हुआ कि वे विवाहित हैं तब उन्होंने कहा, "संसार में अनासक्त होकर रहो। संसार में तो रहो पर उसके होकर नहीं। सदैव सावधान रहो कि संसार की धूल तुम पर न लगे।" सुरेश के मित्र एकटक दक्षिणेश्वर के सन्त को देख रहे थे। श्रीरामकृष्ण देव ने उनसे पूछा, "तुम इस तरह मुझे क्यों देख रहे हो?" उन्होंने उत्तर दिया, "मैं आपके दर्शन करने के लिये आया हूँ इसलिए आपको देख रहा हूँ।" फिर कुछ देर बात करके श्रीरामकृष्ण देव ने उन दोनों को पंचवटी में ध्यान करने के लिये भेज दिया। जब वे वापस लौटे तब श्रीरामकृष्ण उन्हें मन्दिरों की ओर ले गये। माता भवतारिणी के मन्दिर में पहुँचकर श्रीरामकृष्ण भावाविष्ट हो उठे और एक शिशु के समान जगदम्बा से बातें

करने लगे। वहाँ अनिर्वचनीय पवित्रता का वातावरण था और धर्म के जीवन्त विग्रह श्रीरामकृष्ण देव के व्यक्तित्व से आध्यात्मिकता का नद-प्रवाह उद्वेलित हो रहा था। दोनों नवागत अभिभूत हो उठे। सुरेश के मित्र सोचने लगे कि श्रीरामकृष्ण साधु हैं अथवा महात्मा, या साक्षात् ईश्वर? तब सन्ध्या हो चली थी इसलिए उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव से विदा माँगी। श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें पुनः आने के लिये कहा।

श्रीरामकृष्ण के दर्शन से सुरेश के मित्र की आध्यात्मिकता उद्दीप्त हो उठी। यद्यपि वे नियमित रूप से जप-ध्यान करते थे किन्तु अब सारे समय उनका ध्यान ईश्वर पर ही केन्द्रित हो गया। उन्हें सांसारिक कार्यों से अरुचि हो गयी। एक हफ्ते के बाद वे पुनः सुरेश के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे। किन्तु उनके मन में एक अजाना भय हो रहा था और वे काँपते हुए श्रीरामकृष्ण देव के कमरे में पहुँचे। उन्हें देखकर श्रीरामकृष्ण आनन्दित हो उठे और भावावेश में बोल उठे, "अहा! तुम लोगों को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है। तुम्हीं लोगों के लिये तो मैं इतने दिनों से यहाँ रुका हूँ।" फिर उन्होंने सुरेश के मित्र को पकड़कर अपने समीप बैठाते हुए कहा, "भला तुमको क्या डर हो सकता है? तुम्हारी आध्यात्मिक अवस्था बड़ी ऊँची है।" उन्होंने दोनों को पंचवटी में जाकर ध्यान करने के लिये कहा और थोड़ी देर बाद वे स्वयं वहाँ पहुँच

गये तथा सुरेश के मित्र को अपना कुछ काम करने के लिए कहा। श्रीरामकृष्णदेव की बात सुनकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और अपने को बड़ा सौभाग्यशाली समझने लगे, पर उनके मन में यह बात कसक रही थी कि उन्होंने अपने चरणों की धूलि ग्रहण नहीं करने दी है। उनके जाने के बाद श्रीरामकृष्ण देव ने सुरेश को बताया कि तुम्हारा मित्र तो जलती हुई अग्नि के समान है।

तीसरी बार सुरेश के मित्र अकेले ही दक्षिणेश्वर पहुँचे। श्रीरामकृष्ण उन्हें देखते ही भावाविष्ट हो गये और कुछ बुदबुदाते हुए उनके समीप पहुँचे। उन्होंने पूछा, "तुम डाक्टर हो न? देखो तो मेरे पैर में क्या हो गया है?" उन्होंने श्रीरामकृष्ण के चरणों को हाथ से छूकर देखा और बोले, "यहाँ तो कोई खराबी नहीं है।" तब श्रीरामकृष्ण ने फिर कहा, "अजी, ठीक से देखो न, क्या हो गया है?" उन्होंने फिर देखा और तब उन्हें बोध हुआ कि अन्तर्यामी श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय की कसक को जान लिया है और इसीलिए वे उन्हें अपने देवोपम चरणों के स्पर्श करने का अवसर प्रदान कर रहे हैं। श्रीरामकृष्ण कल्पतरु हैं, साक्षात् ईश्वर हैं। उनसे कुछ भी माँगने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं भक्तों के मन को पढ़कर उनकी चिरवांछित कामना की पूर्ति कर दिया करते हैं। उन्हें यह विश्वास हो गया कि श्रीरामकृष्ण युगावतार हैं। इसीलिए जब श्रीरामकृष्ण ने अपने शरीर की ओर इंगित करते हुए

उनसे पूछा, " तुम इसे क्या समझते हो ?" तब उन्होंने भावविगलित वाणी में कहा, "ठाकुर, मुझे अब कुछ भी नहीं कहना है। आपकी कृपा से मैंने जान लिया है कि आप वही हैं।" यह सुनकर ठाकुर तत्काल समाधिस्थ हो गये और उन्होंने अपना चरण उनके वक्ष में रख दिया। सुरेशचन्द्र के मित्र ने देखा कि युगावतार के अलौकिक स्पर्श से उनका बाह्य ज्ञान नष्ट हुआ जा रहा है और सर्वत्र एक ही ज्योति उच्छलित हो रही है।

सुरेशचन्द्र दत्त के ये महाभाग मित्र श्री दुर्गाचरण नाग थे। ये श्रीरामकृष्ण देव के भक्तों में नाग महाशय के नाम से जाने जाते हैं। इनकी उच्च आध्यात्मिक दशा का उल्लेख करते हुए युगाचार्य विवेकानन्द ने कहा था, "मैंने संसार के विभिन्न भागों में भ्रमण किया है पर मुझे नाग महाशय के समान महान् आत्मा के दर्शन कहीं नहीं हुए।" दुर्गाचरण नाग का जीवन विलक्षण घटनाओं से भरा हुआ है। ये घटनाएँ उनकी प्रगाढ़ भक्ति, शरणागति, दीनता और पवित्रता का बखान करती हैं। नाग महाशय भक्तशिरोमणि थे। उनका जीवन वैराग्य और गुरुभक्ति का ज्वलन्त प्रतीक था और वे विनम्रता, परोपकार और ईश्वर-निष्ठा के जीवन्त विग्रह थे।

पूर्व बंगाल के ढाका जिले में नारायणगंज से कुछ दूरी पर देवभोग नामक गाँव है। इसी गाँव में २१ अगस्त, १८४६ को श्री दुर्गाचरण नाग का जन्म हुआ

था । उनके पिता श्रीयुत दीनदयाल नाग धार्मिक प्रवृत्ति से सम्पन्न निष्ठावान् हिन्दू थे । वे कलकत्ते में कुमार-टोली के श्री राजकुमार और श्री हरिचरण पाल चौधरी के दफ्तर में कर्मचारी थे । उन पर पाल बाबुओं का अपार विश्वास था और वे बड़ी ईमानदारी से अपने मालिकों का कार्य किया करते थे । जब दुर्गाचरण आठ वर्ष के हुए तभी उनकी माता त्रिपुरासुन्दरी का देहावसान हो गया । उनकी विधवा बुआ भगवती ने मातृ-हीन दुर्गाचरण का बड़े यत्न से पालन किया और दुर्गाचरण को कभी माता का अभाव खलने नहीं दिया । बालक दुर्गाचरण अत्यन्त मधुर स्वभाव के थे तथा प्रारम्भ से ही उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी थी । वे प्राय: सन्ध्या के समय आकाश के जगमगाते तारों को देखा करते और अपनी बुआ से कहते, "चलो बुआ, उस लोक में चलें । मुझे यहाँ कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।" चन्द्रमा को देखकर वे आनन्द से नाचने लगते थे और पेड़-पौधों से बड़े प्रेम से बातें करते थे । उन्हें पौराणिक कथाओं से बड़ा चाव था और वे उनसे इतने प्रभावित हो जाते थे कि सपने में उन्हें प्रत्यक्ष घटते हुए देखा करते थे । खेलने में उनकी रुचि बिलकुल नहीं थी । वे प्रारम्भ से ही एकान्तप्रिय और चिन्तनशील थे तथा असत्य को सह नहीं सकते थे ।

बालक दुर्गाचरण बड़े मेधावी छात्र थे । उनकी प्राथमिक शिक्षा नारायणगंज में पूरी हुई । दरिद्रता के

कारण आगे की पढ़ाई में रुकावट आने लगी। पर दुर्गाचरण की ज्ञानपिपासा नष्ट नहीं हुई। उन्होंने देवभोग से दस मील दूर ढाका के नार्मल स्कूल में नाम लिखा लिया और रोज घर से ढाका आने-जाने लगे। डेढ़ वर्षों की अवधि में वे केवल दो दिन स्कूल नहीं जा सके थे ! स्कूल जाने के लिए उन्हें एक बीहड़ जंगल और नाला पार करना पड़ता था। लौटते लौटते सन्ध्या हो जाया करती और बालक दुर्गाचरण दौड़ते दौड़ते जंगल पार किया करते। रास्ते में उन्हें एक बार एक अश्वत्थ वृक्ष के नीचे भूत दिखा। वे अत्यन्त भयभीत हो गये। पर उन्होंने सोचा कि अगर मैंने भूत को कोई नुकसान नहीं पहुँचाया है तो वह भी मेरा कोई अनिष्ट नहीं करेगा। यह सोचकर वे दौड़ते हुए निकले। पीछे से भूत ने एक विकट अट्टहास किया पर उन्होंने मुड़कर नहीं देखा। इसी प्रकार अनेक बार आँधी-पानी में भी वे वापस घर लौटे थे पर ये बाधाएँ उन्हें पढ़ने से नहीं रोक सकीं। ढाका में उन्होंने बंग भाषा का गम्भीर अध्ययन किया था और बालकों के लिये 'बालकों के प्रति उपदेश' नामक पुस्तक की रचना भी की थी।

ढाका की पढ़ाई समाप्त कर दुर्गाचरण अपने पिता के पास कलकत्ता चले आये और कैम्पबेल मेडिकल स्कूल में भरती हो गये। डेढ़ साल तक पढ़ने के बाद वे डॉ० रासबिहारी लाल से होम्योपैथी सीखने लगे। कलकत्ता आने के पहले ही दुर्गाचरण की बुआ ने उनका

विवाह कर दिया था। उनकी पत्नी प्रसन्नकुमारी जब ससुराल पहुँचीं तब नाग महाशय ने एक विलक्षण काण्ड किया। नववधू के साथ एक ही शय्या में सोने के भय से वे सन्ध्या होते ही एक वृक्ष में चढ़कर छिप गये। उनकी बुआ ने जब उन्हें खोज निकाला तो वे तब तक उतरने के लिए राजी नहीं हुए जब तक बुआ ने उन्हें अपने कमरे में सुलाने का वचन नहीं दिया। बुआ ने सोचा कि कुछ समय बाद दुर्गाचरण का मनोभाव परिवर्तित हो जायेगा। पर इसके पहले ही प्रसन्नकुमारी का देहावसान हो गया। तब नाग महाशय कलकत्ता में थे।

होम्योपैथी सीखते समय नाग महाशय ने चिकित्सा करना भी प्रारम्भ कर दिया था। शीघ्र ही वे विख्यात चिकित्सक हो गये। रोगियों की भीड़ उन्हें हमेशा घेरे रहती। नाग महाशय ने सेवा के उद्देश्य से चिकित्सा के व्यवसाय को अपनाया था, अर्थोपार्जन उनका लक्ष्य नहीं था। इसी समय उनकी भेंट सुरेशचन्द्र दत्त से हुई। सुरेशचन्द्र कट्टर ब्राह्मसमाजी थे तथा हिन्दू देवी-देवताओं पर उनका तनिक भी विश्वास नहीं था। इसके विपरीत नाग महाशय भक्तशिरोमणि थे तथा देवी-देवताओं पर उनकी अपार श्रद्धा थी। फिर भी वे दोनों घनिष्ठ मित्र हो गये। इधर नाग महाशय की आध्यात्मिकता उद्दीप्त हो उठी और उन्होंने चिकित्सा में रुचि लेना कम कर दिया। अब उनका दिन शास्त्रों के अध्ययन

और ध्यान-जप में बीतने लगा। वे दो बार गंगा में स्नान करते और श्मशान में जाकर संसार की अस्थिरता पर विचार करते हुए ईश्वर के ध्यान में तन्मय हो जाते। इसी बीच उन्हें कुछ आध्यात्मिक अनुभव भी हुए। अपने पुत्र की बढ़ती हुई वीतरागिता को देखकर दीनदयाल बड़े चिन्तित हुए। उन्होंने सोचा कि पुत्र का दुबारा विवाह कर देने से उसके मन को संसार की ओर खींचा जा सकता है। इसलिए उन्होंने नाग महाशय के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा। पर नाग महाशय इस बन्धन में पुनः नहीं बँधना चाहते थे। वे संन्यासी बनकर ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करना चाहते थे। पुत्र की असहमति देखकर दीनदयाल अनशन पर उतारू हो गये और खाना-पीना त्याग दिया। फलतः नाग महाशय को दूसरा विवाह करने के लिए बाध्य होना पड़ा और देवभोग आकर उन्हें शरत्कामिनी देवी का पाणिग्रहण करना पड़ा।

अब नाग महाशय गृहस्थ बन गये। उन्होंने कलकत्ता में पुनः चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ कर दिया पर वे धन की ओर से सर्वथा उदासीन थे। रोगी स्वयं जो कुछ दे देते, नाग महाशय वह ग्रहण कर लेते किन्तु वे स्वयं किसी रोगी से फीस नहीं माँगते थे। एक बार उनके पिता ने उनके लिये अच्छे वस्त्र बनवा दिये। उनका विचार था कि ऐसे वस्त्रों में नाग महाशय अधिक कुशल चिकित्सक दिखेंगे पर नाग महाशय ने उन कपड़ों

को एक तरफ रखते हुए कहा, "मुझे इन कपड़ों की आवश्यकता नहीं है। अगर इनमें लगे पैसों को गरीबों की सेवा में खर्च किया जाता तो अच्छा था।" यह सुनकर दीनदयाल खीज उठे और बोले, "मैंने तुझसे बड़ी आशाएँ की थीं। पर लगता है कि सभी आशाएँ मिथ्या थीं। तू तो साधु होता जा रहा है।" नाग महाशय सचमुच साधु होते जा रहे थे। उनमें संचय की प्रवृत्ति छू तक नहीं गयी थी। रोगियों से फीस लेना तो दूर रहा, कई बार वे स्वयं अपनी जेब से उनके पथ्य और औषधि के लिए पैसे दे दिया करते थे। एक बार शीत से काँपते रोगी को देखकर उन्होंने अपना कीमती दुशाला उसे दे दिया। इसी प्रकार हैजे से ग्रस्त रोगी की परिचर्या करते-करते उन्होंने एक बार सारा दिन ही उसके पास बिता दिया।

धीरे-धीरे नाग महाशय की सुख्याति फैलने लगी। वे पाल बाबुओं के पारिवारिक चिकित्सक बन गये। एक समय उन्होंने पाल बाबुओं के परिवार की एक महिला को विशूचिका के रोग से मुक्त कर दिया। इससे पाल बाबू लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और तश्तरी में रुपये भरकर उन्हें उपहार देने लगे। पर नाग महाशय ने उसे लेना अस्वीकार कर दिया। पाल बाबुओं ने सोचा कि सम्भवतः रुपये थोड़े हैं इसलिए नाग महाशय ग्रहण नहीं कर रहे हैं। ऐसा विचार कर वे और अधिक रुपये उन्हें भेंट करने लगे। पर नाग महाशय ने केवल तीन रुपये

ग्रहण किये क्योंकि उनकी फीस और दवाइयों की कीमत इतनी ही थी। नाग महाशय इतने अधिक निःस्पृह थे कि उनके समक्ष धन का कोई मूल्य नहीं था। यदि वे चाहते तो तीन-चार सौ रुपये प्रति मास बड़ी आसानी से कमा सकते थे पर उनकी आय तीस-चालीस रुपये ही थी। वे अपनी पूरी आय पिता को सौंप देते थे। नाग महाशय को संसार से विरक्त देखकर उनके पिता मन ही मन बहुत कुढ़ा करते। इतनी कम आय में रसोइया रखना सम्भव नहीं था इसलिए वे स्वयं भोजन पकाया करते थे। पिता-पुत्र में रोज भोजन बनाने की होड़ सी लगी रहती थी। पिता की असुविधा को देखकर नाग महाशय ने अपनी पत्नी को कलकत्ता बुला लिया। इससे दीनदयाल प्रसन्न तो हुए पर उन्हें अपने संसार-विरत पुत्र के व्यवहार को देखकर दुःख भी हुआ। नाग महाशय दिन भर रोगियों की परिचर्या में लगे रहते और रात को घर लौटकर अपने पिता को धर्मग्रंथ पढ़कर सुनाया करते थे। सांसारिक कार्यों के लिये न तो उनकी रुचि थी और न समय ही। वे प्रायः सुरेश के साथ गंगा के तट पर बैठकर उपासना किया करते। इन दिनों उनकी आध्यात्मिक अवस्था अत्युच्च थी। वे ध्यान में समाधिस्थ हो जाते और कभी कभी भावावेश में नृत्य करने लगते। एक बार वे ईश्वरीय आवेश से भरकर गंगा में कूद पड़े थे। बाद में उन्होंने अपने आध्यात्मिक भावों का प्रयत्नपूर्वक गोपन किया था।

उनका कहना था कि "भाव जितना गुप्त उतना पुष्ट, जितना व्यक्त उतना त्यक्त।" इसी बीच उन्हें ज्ञात हुआ कि बिना दीक्षा लिए अध्यात्म के क्षेत्र में प्रवेश नहीं मिलता। वे अत्यन्त व्यग्र हो उठे और सुयोग्य गुरु की खोज करने लगे। एक दिन गंगा में स्नान करते समय उन्होंने अपने कुलगुरु श्री कैलाशचन्द्र भट्टाचार्य को नाव में आते हुए देखा। उन्होंने उन्हें प्रणाम कर गुरु-मंत्र प्रदान करने के लिए प्रार्थना की। भट्टाचार्य ने नाग महाशय को सहर्ष गुरु-मंत्र प्रदान किया। इसके पश्चात् नाग महाशय अधिक तीव्रता से आध्यात्मिक साधनाओं में लग गये। इसी समय के लगभग वे सुरेशचन्द्र दत्त के साथ दक्षिणेश्वर पहुँचे थे जहाँ श्रीरामकृष्ण देव ने उनकी आध्यात्मिक चेतना को और अधिक उद्दीप्त कर, उनके जीवन को गार्हस्थ्य धर्म के आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया था।

युगावतार के आकर्षण-पाश में बँधकर नाग महाशय नियमित रूप से दक्षिणेश्वर जाने लगे। यहीं उनकी भेंट श्रीरामकृष्ण देव के अन्य लीला-पार्षदों से हुई और वे शीघ्र ही उन सबके परम आत्मीय बन गये। एक बार जब वे श्रीरामकृष्ण देव के कमरे में बैठे थे तब नरेन्द्रनाथ 'चिदानन्दरूप: शिवोऽहं शिवोऽहं' कहते हुए वहाँ आये। श्रीरामकृष्ण देव ने नरेन्द्रनाथ से नाग महाशय का परिचय देते हुए कहा, "इसमें विशुद्ध दीनता है। यहाँ तनिक भी छल नहीं है।" फिर उन दोनों को

वार्तालाप करने के लिये कहा। वह अभूतपूर्व समागम था। नाग महाशय और नरेन्द्रनाथ के रूप में साक्षात् भक्ति और ज्ञान वहाँ उपस्थित थे और समन्वयाचार्य श्रीरामकृष्ण उन दोनों के दृढ़ सामंजस्य-सूत्र के रूप में वहाँ विद्यमान थे। नाग महाशय ने वार्तालाप प्रारम्भ करते हुए कहा, "प्रत्येक कार्य ईश्वरेच्छा से सम्पन्न होता है। अज्ञानी व्यक्ति स्वयं को कर्ता समझता है।" नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, "मैं 'उस' पर विश्वास नहीं करता। मैं ही प्रत्यक्ष आत्मा हूँ तथा मेरी ही इच्छा से यह विराट विश्व यंत्रवत् परिचालित हो रहा है।" नाग महाशय ने पुनः कहा, "पर जब आप एक काले बाल को सफेद नहीं बना सकते तो सारे विश्व की बात क्यों करते हैं? वृक्ष का एक पत्ता भी उनकी इच्छा के बिना नहीं हिल सकता।" श्रीरामकृष्ण देव इन बातों को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और नाग महाशय से बोले, "जानते हो, नरेन्द्र धधकती हुई अग्नि है। वह यह सब कह सकता है।" इस पर नाग महाशय ने नरेन्द्रनाथ की महत्ता तत्क्षण स्वीकार कर ली। कालान्तर में उनका यह विश्वास दृढ़ हो गया कि ठाकुर के लीला-सहायक के रूप में साक्षात् ज्ञानगुरु महादेव ही नरेन्द्रनाथ के रूप में अवतीर्ण हुए हैं।

नाग महाशय गुरु-भक्ति के जीवन्त विग्रह थे। श्रीरामकृष्ण देव की प्रत्येक बात को वे बड़ी गम्भीरता से ग्रहण करते थे और उसे अपने जीवन का भरत-वाक्य बना

लेते थे। एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव को एक भक्त से यह कहते सुना कि "डाक्टरों, वकीलों, मुख्तियारों और दलालों को ठीक-ठीक धर्मलाभ होना कठिन है।" फिर क्या था, नाग महाशय घर लौटते ही अपने दवाइयों के बक्स और वैद्यक की किताबों को गंगा में डाल आये। उस दिन से उन्होंने चिकित्सा करना बन्द कर दिया। यह देखकर उनके पिता ने उन्हें पाल बाबुओं से कहकर अपने स्थान पर नियुक्त करा दिया। नाग महाशय को अब भजन-पूजन का अधिक अवसर मिलने लगा। उनके हृदय में वैराग्याग्नि प्रज्वलित हो उठी और वे संसार-त्याग करने के लिए उद्यत हो उठे। पर वे ठाकुर की अनुमति के बिना कुछ भी नहीं कर सकते थे। वे एक दिन दक्षिणेश्वर पहुँचे ताकि वे श्रीरामकृष्ण देव से संन्यास ग्रहण कर सकें। अन्तर्यामी श्रीरामकृष्ण देव उन्हें देखते ही बोले, "तुम जनक के समान गृहस्थाश्रम में रहो। तुम्हें देखकर गृही जन यथार्थ गार्हस्थ्य-धर्म की शिक्षा प्राप्त करेंगे।" नाग महाशय ने ठाकुर की आज्ञा का पालन किया। वे यद्यपि संसारत्यागी संन्यासी नहीं बने पर वे संसार से पूर्णतया विरक्त हो गये। उनके लिये नौकरी करना असम्भव था इसलिए उन्होंने पाल बाबुओं की चाकरी छोड दी पर गुणग्राही पाल-बन्धु निरन्तर नाग महाशय के परिवार के भरण-पोषण की व्यवस्था करते रहे। नाग महाशय का समय अब पूरी तरह से आध्यात्मिक साधनाओं में बीतने लगा।

वे नियमित रूप से दक्षिणेश्वर जाया करते, पर रविवार को यह सोचकर नहीं जाते थे कि उस दिन बड़े-बड़े पंडित और विद्वान् श्रीरामकृष्ण देव के पास आते हैं अतः वहाँ उनके जैसे मूर्ख का क्या काम! इसीलिए उनका श्रीराम-कृष्ण देव के सभी भक्तों से परिचय नहीं हो पाया, पर वे उनके अन्तरंग शिष्यों और गृही भक्तों से अवश्य परिचित हो गये थे। नाटयाचार्य गिरीशचन्द्र घोष को तो वे परम आत्मीय समझते थे और श्रीरामकृष्ण देव के बाल-भक्तों को श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखते थे।

नाग महाशय की धारणा थी कि श्रीरामकृष्ण देव की प्रत्येक बात सार्थक होती है। लीला-संवरण के कुछ दिन पूर्व श्रीरामकृष्ण देव ने आँवला खाने की इच्छा प्रकट की। यद्यपि वह आँवले का मौसम नहीं था पर नाग महाशय जानते थे कि ठाकुर की कोई बात निरर्थक नहीं है। वे दो दिनों तक आँवले की खोज में बगीचे-बगीचे भटकते रहे। तीसरे दिन उन्हें यह फल मिला और वे उसे लेकर ठाकुर के पास पहुँचे। श्रीरामकृष्ण देव आँवले को देखकर शिशु के समान प्रसन्न हो उठे। उन्होंने अपने भक्त से नाग महाशय को भोजन कराने के लिये कहा। वह एकादशी का दिन था। नाग महाशय उस दिन उपवास रखते थे और कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे। जब ठाकुर को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने खाद्य-पदार्थों में से कुछ को चखकर नाग महाशय के पास भिजवा दिया। नाग महाशय ठाकुर की कृपा का अनुभव

कर द्रवित हो उठे और उन्होंने समूचे खाद्य-पदार्थ को तो ग्रहण किया ही, साथ ही पत्तल को भी वे खा गये। ठाकुर के स्पर्श से युक्त प्रत्येक वस्तु उनके लिए प्रसादतुल्य थी। बाद में उन्हें प्रसाद पत्तलों में नहीं दिया जाता था क्योंकि लोग जान गये थे कि नाग महाशय प्रसाद के पत्तलों को भी प्रसादस्वरूप ग्रहण कर लेते हैं।

श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के समाचार से नाग महाशय पर वज्राघात सा हुआ। वे शय्याशायी हो गये और अहर्निश विलाप करने लगे। वे शय्या से उठते ही नहीं थे। उनका खाना-पीना छूट गया। जब नरेन्द्रनाथ को इसका समाचार मिला तो वे गंगाधर और हरि के साथ नाग महाशय के घर पहुँचे और भोजन माँगने लगे। नाग महाशय में अतिथि-सत्कार की भावना कूट-कूट कर भरी थी। वे ठाकुर के शिष्यों को ठाकुर के समान ही समझते थे। शोक-ताप में दग्ध नाग महाशय नरेन्द्रनाथ के कण्ठ-स्वर को सुनकर अस्त-व्यस्त हो उठे और रसोई पकाने लगे। फिर जब भोजन परोस कर नरेन्द्रनाथ आदि भक्तों से ग्रहण करने का अनुरोध किया तब नरेन्द्रनाथ ने कहा कि जब तक आप भी साथ में भोजन नहीं करेंगे, हम लोग अन्न का स्पर्श भी नहीं करेंगे। निरुपाय होकर नाग महाशय ने उनके साथ भोजन ग्रहण किया और इस प्रकार उनका अनाहार भंग हुआ। नाग महाशय महान् अतिथि-परायण थे। कालान्तर

में जब उनके देवोपम गुणों की सुरभि चारों ओर फैली तब भक्तगण उनके दर्शनों के लिए उनके समीप आने लगे। नाग महाशय निरभिमान भाव से उनकी सेवा में लगे रहते। वे उनके लिए तंबाकू तैयार करते, उन्हें पंखा झलते और उनके भोजन के लिए बाजार से खाद्य-पदार्थ खरीदकर अपने सिर पर रखकर घर लाते। वे अतिथियों को तो अच्छे कमरों में ठहराते और स्वयं जाड़े के दिनों में खुले बरामदे में और वर्षा के दिनों में जल से भरे कमरे में बैठकर ठाकुर का स्मरण करते हुए रात्रि यापन कर देते।

नाग महाशय को कभी कभी सिर में भयानक पीड़ा उठा करती थी और वे असह्य वेदना से छटपटाया करते थे। एक बार वे अतिथियों के लिए बाजार से खाद्य-सामग्री ला रहे थे। रास्ते में ही उनकी पीड़ा उभर पड़ी। वे भूमि पर बैठकर दुःखित स्वर से कहने लगे, "हाय, रामकृष्ण! यह क्या हो गया? घर में अतिथि बैठे हैं। उनकी सेवा में विलम्ब हो रहा है।" पीड़ा के कम होते ही वे घर पहुँचे और अतिथियों से विलम्ब के लिए क्षमा-याचना की। एक अन्य अवसर पर उनका दर्शन करने के लिए एक भक्त काफी रात गये उनके घर पहुँचा। उस समय मूसलाधार वर्षा हो रही थी और वह भक्त नदी तैरकर आया था। नाग महाशय ने जब यह जाना तो उसकी स्नेहपूर्ण भर्त्सना करते हुए उसके लिए सूखे वस्त्रों का प्रबन्ध किया और भोजन

की व्यवस्था करने लगे। घर में सूखी लकड़ी खत्म हो चुकी थी। अतः नाग महाशय ने ईंधन के लिए अपने मकान की मयाल ही काट ली। उस भक्त के रोकने पर भी वे नहीं माने।

यद्यपि नाग महाशय का अपने पिता से हमेशा मत-वैभिन्न्य रहता था पर वे महान् पितृभक्त थे तथा अपने पिता के प्रत्येक आदेश का पालन करने के लिये सचेष्ट रहते थे। उनके पिता की रुचि उतनी ईश्वराभिमुख नहीं थी इसलिए नाग महाशय प्रायः दुखी रहा करते थे तथा भगवान् से प्रार्थना करते जिससे पिता का मन प्रभु के चरणों में निविष्ट हो जाये। एक बार वे देव-भोग में थे। उनके घर के आँगन में कुम्हड़े की बेल लगी थी। पास में एक गाय बँधी थी। नाग महाशय ने देखा कि गाय बार-बार पौधे की ओर लपकती है पर रस्सी से बँधी होने के कारण उसका मुँह पौधे तक नहीं पहुँच पाता। पर-दुःख-कातर नाग महाशय गाय की व्याकुलता देख द्रवित हो उठे और उसकी रस्सी खोलकर बेल को झुकाते हुए बोले, "खाओ माँ, खाओ।" गाय बड़ी प्रसन्नता से पूरी बेल उदरस्थ कर गयी। जब उनके पिता को यह समाचार मिला तो वे नाग महाशय की भर्त्सना करते हुए कहने लगे, "संसार के लिए हितकर कार्य करना छोड़कर तू ऐसा अनिष्ट ही करता रहता है। डाक्टरी छोड़कर तू क्या खायेगा? तेरे दिन कैसे कटेंगे?" नाग महाशय ने उत्तर दिया, "इसकी

व्यवस्था भगवान् करेंगे ।" पर उनके पिता यह सुनकर खीज उठे और बोले, "हाँ, हाँ, मैं जानता हूँ । तू तो नंगा फिरेगा और मेंढक खाकर पेट भरेगा ।" नाग महाशय ने इसका उत्तर नहीं दिया पर उन्होंने तत्काल अपने वस्त्रों को शरीर से उतारकर फेंक दिया और समीप पड़े मरे मेंढक को चबाते हुए बोले, "मैंनें आपके दोनों आदेशों का पालन कर लिया है पर मैं आपके चरण छूकर प्रार्थना करता हूँ कि अब आप संसार की चिन्ता छोड़कर भगवान् में मन लगाइये ।"

श्रीरामकृष्ण देव के अन्तर्धान के उपरान्त नाग महाशय देवभोग लौटे और अपने अस्वस्थ पिता की परिचर्या में लग गये । एक बार उन्होंने अपने पिता को विषाद-भरे स्वर में यह कहते सुना कि "दुर्गाचरण तो कमाता नहीं है इसलिए मैं भी दुर्गा की पूजा-अर्चना नहीं कर पा रहा हूँ ।" इसके बाद से नाग महाशय पिता की इच्छा को पूर्ण करने के लिये प्रति वर्ष दुर्गा, काली, जगद्धात्री और सरस्वती-पूजन का आयोजन करने लगे । एक बार नाग महाशय ग्रहण के समय कलकत्ता से देवभोग पहुँचे । पिता ने उन्हें ताड़ना देते हुए कहा, "यह तुम्हारा कैसा धर्म है ? जब अन्य लोग इस समय गंगास्नान के लिए जा रहे हैं तब तुम गंगा को छोडकर यहाँ आये हो । अभी भी तीन-चार दिन बाकी हैं । तुम मुझे गंगास्नान कराने ले चलो ।" पिता की बात सुनकर नाग महाशय ने कहा कि गंगा स्वयं

भक्त के घर आ जायेगी। इसके बाद ग्रहण के दिन दोपहर को नाग महाशय के घर के आँगन में एक वेगवती जलधारा भू-गर्भ से उमड़ पड़ी। नाग महाशय ने 'जय पतितपावनी माँ भागीरथी' कहकर पुण्यतोया को प्रणाम किया और दीनदयाल हर्षविह्वल होकर उस धारा में स्नान करने लगे। यह प्रवाह लगभग एक घण्टे तक बहता रहा। सारा गाँव आश्चर्यविजड़ित होकर भक्त की महिमा के दर्शन करने लगा।

नाग महाशय सच्चे अर्थों में इन्द्रियजित थे। उन्होंने स्वाद की वृत्ति को जीत लिया था। वे भोजन में कभी नमक या शक्कर का उपयोग नहीं करते थे। उनका कहना था कि इससे जीभ चटोरी हो जायेगी। वे कलकत्ता में जिस घर में रहा करते थे वहाँ चावल का कोढ़ा पड़ा हुआ था। नाग महाशय ने तीन दिन कोढ़ा खाकर ही बिता दिया। जब पड़ोसी को यह खबर मिली तो वे बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने कोढ़ा निकलवाकर बाहर फिंकवा दिया। पर कोढ़ा खाने से नाग महाशय को कोई हानि नहीं पहुँची। उन्होंने इस सम्बन्ध में कहा था, "कोढ़ा खाने में मुझे कोई तकलीफ नहीं हुई। अगर मन सदा खाने की चिन्ता करता रहे तो मैं भगवान् का स्मरण कब करूँगा?"

जब वे देवभोग में स्थायी रूप से रहने का विचार कर कलकत्ता से लौटे तब उन्होंने अलग कुटी बनाकर रहने का संकल्प किया। उनकी सहधर्मिणी को जब

यह बात मालूम हुई तब उन्होंने नाग महाशय को कहलवा भेजा कि जिस प्रकार अभी तक घर में उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं हुआ है वैसा ही भविष्य में भी होगा, अतः वे घर में ही रहें। नाग महाशय यह जानकर घर में ही रहने लगे। पर उनके पिता उनकी वीतरागिता से दुखी रहा करते थे। एक बार उन्होंने अपने गुरु के वंशज श्री नवीनचन्द्र भट्टाचार्य को नाग महाशय को संसार में प्रवृत्त करने का अनुरोध किया। भट्टाचार्य नाग महाशय को वंश-रक्षा के लिये सन्तानोत्पत्ति का उपदेश देने लगे। यह सुनकर नाग महाशय ने अपने सिर को ईंट से पीटते हुए कहा, "गुरु-वंश के साधक होकर आप ऐसा असंगत आदेश दे रहे हैं?" भट्टाचार्य मे देखा कि ईंट के आघात से उनका कपाल लहूलुहान हो गया है फिर भी वे सिर पर आघात करते जा रहे हैं। उन्होंने घबराकर अपना आदेश वापस लिया तब कहीं नाग महाशय का हाथ रुका। वे तो कामगन्धशून्य महापुरुष थे। उनके पिता बार-बार उनकी भर्त्सना करते हुए उन्हें संसार में प्रवृत्त करने की चेष्टा करते। ऐसे समय नाग महाशय प्रायः मौन रह जाते थे। पर एक दिन जब उनसे न सहा गया तो बोले, "मैंने न तो स्त्री-संग किया है और न करूँगा क्योंकि मुझे संसार-सुख की तनिक भी स्पृहा नहीं है।" इतना कहकर उन्होंने अपने वस्त्रों को उतार दिया और 'नाहं नाहं' कहते हुए घर से निकल पड़े। उनकी साध्वी

पत्नी यह देखकर करुण विलाप करने लगी। बहुत समझाने-बुझाने पर तब कहीं नाग महाशय घर वापस लौटे। उन्हें संसार-चर्चा अप्रिय लगती थी। ऐसे अवसरों पर वे ईश्वर की चर्चा छेड़ दिया करते थे। वे किसी की निन्दा नहीं करते थे। एक बार भूल से किसी व्यक्ति की आलोचना उनके मुख से निकल गयी। जब नाग महाशय को इसका भान हुआ तो उन्होंने पत्थर पर अपने माथे को पटक दिया। यह घाव लगभग एक महीने तक कष्ट देता रहा। पर नाग महाशय को इस प्रायश्चित्त से सन्तोष था। वे कहते थे, "मेरा मन इतना भ्रष्ट हो गया था कि उसके लिए यह सजा ठीक है।" अपनी वृत्तियों के दमन के लिए वे लम्बे उपवास करते। सिर के दर्द के कारण चिकित्सकों की सलाह पर उन्होंने अन्तिम बीस वर्ष स्नान करना छोड़ दिया था। फलतः उनका शरीर बड़ा रूखा हो गया था। वे इतने विनीत थे कि किसी अन्य व्यक्ति से सेवा ग्रहण ही नहीं कर पाते थे। एक बार उन्होंने देखा कि एक मजदूर उनके घर के छप्पर की मरम्मत कर रहा है। यह देख वे व्याकुल हो उठे और कहने लगे, "हाय रामकृष्ण! तुमने मुझे गृहस्थाश्रम में क्यों रखा है? क्या मुझे अपने सुख के लिए अन्य लोगों को खटते हुए देखना पड़ेगा?" उन्होंने मजदूर को नीचे उतारा और उसे तम्बाकू पिलाकर पूरे दिन की मजदूरी देकर विदा किया। तब से नाग महाशय की सहधर्मिणी इस प्रकार के कार्य

उनकी अनुपस्थिति में ही कराती थीं। उनकी अपार दीनता को देखकर एक बार स्वामी निरंजनानन्दजी ने ठाकुर का उल्लेख करते हुए उनसे कहा था कि खुद को दीन-हीन समझने से व्यक्ति वस्तुतः दीन-हीन हो जाता है, अतः ऐसा भाव ठीक नहीं है। यह सुनकर नाग महाशय ने कहा कि यदि कीट स्वयं को कीट माने और यदि क्षुद्र स्वयं को क्षुद्र कहे तो यह सत्य ही है। नाग महाशय ने अपने अहं को पूर्णतया नष्ट कर दिया था। रास्ता चलते समय वे सबके पीछे पीछे चला करते थे। वे समस्त प्राणियों को ईश्वरमय देखते थे तथा उन्होंने कभी भी मक्खी, मच्छड या खटमल की हिंसा नहीं की। कभी-कभी तो वे अपनी साँस तक रोक लिया करते थे जिससे सूक्ष्म कीटाणु न मर जायें। गिरीशचन्द्र घोष ने कहा-था, "नाग महाशय ने अपने अहं को इतना कुचल दिया था कि वह फिर नहीं उठ सका।"

यद्यपि नाग महाशय परम विनीत थे पर वे गुरु-निन्दा सहन नहीं कर सकते थे। एक बार वे एक साधु के दर्शन करने गये। वह ठाकुर की निन्दा करने लगा। यह देखकर नाग महाशय क्षुब्ध हो कहने लगे, "हाय ठाकुर! मैं तुम्हारी बात भूलकर क्यों यहाँ आ गया? मेरी बुद्धि क्यों नष्ट हो गयी?" यह कहकर वे अपना सिर पीटने लगे और वहाँ से चले आये। यद्यपि वे सहज ही विचलित नहीं होते थे तथापि श्रीरामकृष्ण देव की निन्दा सुनकर उनका क्रोध जाग उठता था। एक बार

देवभोग का एक प्रतिष्ठित व्यक्ति नाग महाशय के घर आकर ठाकुर की निन्दा करने लगा। नाग महाशय ने उसे बहुत रोका पर उसकी जीभ चलती ही रही। हार कर नाग महाशय जूता उठाकर उसे पीटते हुए बोले, "चुप रह मूर्ख, यहाँ बैठकर ठाकुर की निन्दा करता है!" नाग महाशय का यह विलक्षण व्यवहार देखकर वह व्यक्ति बदला लेने की बात कहकर चला गया पर कुछ ही दिनों बाद उसने नाग महाशय से अपने कृत्य के लिए क्षमा-याचना की। जब गिरीश चन्द्र घोष को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने नाग महाशय से पूछा, "आप तो जूता पहनते नहीं फिर आपको जूता कहाँ से मिला ?" नाग महाशय ने कहा, "मैंने उसी के जूते से उसको मारा।" इसी प्रकार एक बार वे नाव से बेलुड़ मठ आ रहे थे। इतने में एक सहयात्री मठ की निन्दा करने लगा। नाग महाशय उस पर इतने कुपित हुए कि वह व्यक्ति उनकी अग्निपूर्ण दृष्टि से भयभीत हो, नाव को ठहराकर वहीं उतर गया। उसे आगे यात्रा करने की हिम्मत नहीं हुई।

आध्यात्मिक दृष्टि से नाग महाशय की अवस्था बड़ी ऊँची थी पर वे इसे सदैव छिपाये रखते थे। एक बार सरस्वती-पूजन के अवसर पर वे उपस्थित भक्तों से देवी-देवताओं और उनकी कृपा से प्राप्त सिद्धियों की चर्चा कर रहे थे। इतने में एक व्यक्ति बोल उठा, "इनकी अनुभूति देवी-देवताओं के राज्य तक सीमित

है। ये ससीम को पार कर असीम निर्गुण तक नहीं पहुँच सके हैं।" यह सुनकर नाग महाशय बाहर चले आये। जब बहुत देर तक वे वापस नहीं लौटे तब वही व्यक्ति उन्हें खोजने निकला। उसने देखा कि नाग महाशय रसोई घर के पास के आम्र वृक्ष के नीचे दण्डायमान पड़े हैं और भावावेश में कह रहे हैं, "माँ, क्या मैं इस मिट्टी में आबद्ध हूँ? तू तो अनन्त सच्चिदानन्दमयी है—महाविद्यारूपिणी है।" यह कहते-कहते वे समाधिस्थ हो गये। यह देखकर उस व्यक्ति के मन का सारा सन्देह विलीन हो गया और वह आत्मलीन महामानव को विस्मित दृष्टि से देखता रहा। तब नाग महाशय की सहधर्मिणी ने उसे बताया, "बेटा, तुमने तो इनकी यह अवस्था आज पहली बार देखी है। कभी-कभी तो ये दो-तीन पहर तक चेतनाशून्य रहते हैं।"

नाग महाशय का जीवन श्रीरामकृष्ण देव के भरत-वाक्य की जीवन्त व्याख्या है। वे जन्मभर विदेह के समान गृहस्थाश्रम में रहे तथा उनका चरित्र संसार के जल से पद्मपत्र की भाँति निर्लिप्त रहा। उनके पिता भी अन्तिम वर्षों में ईश्वर के भक्त हो गये थे और नियमित रूप से आध्यात्मिक साधनाओं में लग गये थे। श्रीभगवान् के पादाम्बुजों का स्मरण करते हुए उन्होंने इस लोक से प्रयाण किया था। नाग महाशय ने घर को बन्धक रखकर अपने पिता का श्राद्ध-कर्म सम्पन्न किया और गया में पिण्ड-दान दिया। इसके तीन वर्ष

पश्चात् नाग महाशय का स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगा। सिर की पीड़ा और आमाशय की व्याधि ने उनके शरीर को निःशक्त बना दिया। धीरे धीरे उनका अन्त समय समीप आ गया। देह-त्याग के तीन दिन पूर्व उन्होंने पंचांग बुलवाया और देखा कि पौष त्रयोदशी को १० बजे के बाद महाप्रयाण का अच्छा मुहूर्त है। श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती पंचांग देख रहे थे। उनसे नाग महाशय ने कहा, "यदि आपकी अनुमति हो तो इसी दिन आप सबसे विदा लूँ।" मृत्यु के दो दिन पहले रात के लगभग दो बजे उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और शरत् बाबू से कहा, "आपने जो जो तीर्थ देखे हैं, आप उनका एक एक करके नाम लेते जाइए, मैं भी देखता जाऊँ।" शरत् बाबू एक के बाद एक हरिद्वार, प्रयाग, गंगासागर, काशी और जगन्नाथपुरी का नाम लेने लगे। नाग महाशय भी भावस्थ होकर इन सब तीर्थों का वर्णन करने लगे मानो वे उन तीर्थों को अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष देख रहे हों। इसके साथ ही साथ उनका बाहरी ज्ञान लुप्त होने लगा। पूस की त्रयोदशी (दिसम्बर १८९९) को ९ बजे से उनकी साँस चढ़ने लगी। आँखें कुछ कुछ लालिमा लिये, ओंठ फड़कते-से, मानो कुछ उच्चारण कर रहे हों। आँखों के कोनों से प्रेमाश्रु झरने लगे। धीरे धीरे १० बजे के कुछ मिनट बाद उनके प्राणपखेरू उड़ गये और वे महासमाधि में लीन हो गये।

महामानव नाग महाशय का जीवन ईश्वर-समर्पित

जीवन था। संसार में रहते हुए भी उन्हें संसार के प्रलोभन स्पर्श नहीं कर पाये थे। उनकी सहधर्मिणी ने कहा था, "उनके शरीर या मन में कभी कोई मानवीय विकार दिखायी नहीं पड़ा। यद्यपि वे आग के बीच में रहते थे पर उनका शरीर कभी उससे दग्ध नहीं हुआ।" नाग महाशय ने अनेक व्यक्तियों को आध्यात्मिक उत्थान की प्रेरणा प्रदान की थी। वे स्वयं अपने आपको छुपाये रखते थे। उनकी इस निरभिमानता का आख्यान करते हुए गिरीशचन्द्र घोष ने कहा था, "जब महामाया नरेन्द्र और नाग महाशय को बाँधने आयी तब वह बड़ी विपदा में पड़ गयी। नरेन्द्र को वह जितना बाँधती वह उतने ही बड़े हो जाते और माया का पाश छोटा पड़ जाता। अन्त में महामाया हताश होकर उन्हें छोड़ गयी। फिर वह नाग महाशय को बाँधने लगी। पर वह अपने पाश को जितना ही कसती, नाग महाशय उतने ही छोटे हो जाते और गाँठ में से निकल आते। अन्ततोगत्वा वहाँ भी उसे हार माननी पड़ी।"

●

★ जब तक बात तुम्हारे मुख से नहीं निकली, तब तक वह तुम्हारे वश में है। ज्योंही वह तुम्हारे मुख से निकली कि तुम उसके वश में हो गये।

—सुकरात

मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद्‌चन्द्र पेंढारकर

१. क्रोधहीनता का असर

सन्त तुकाराम ने जब अपना सब कुछ दीन-दुखियों की सेवा में अर्पित कर दिया और उनके घर में खाने को कुछ भी न बचा, तो उनकी पत्नी ने कहा, "बैठे क्या हो, खेत में गन्ने खड़े हैं। एक गट्ठर बाँध लाओ। आज का दिन तो निकल ही जायगा।" तुकाराम महाराज तत्काल खेत में पहुँचे और गन्नों का एक गट्ठर बाँध घर की तरफ चले। इतने में लड़कों ने और भिखारियों ने गन्ने देखे और वे उनके पीछे पड़ गये। तुकाराम ने गट्ठर में से एक-एक गन्ना निकालकर सबको बाँटना शुरू किया। जब वे घर पहुँचे, तो उनके पास केवल एक ही गन्ना शेष बचा था।

उनकी पत्नी बेहद भूखी थी और जब उसने अपने पति के हाथ में केवल एक ही गन्ना देखा, तो आगबबूला हो गयी। उनके हाथ से गन्ना छुड़ाकर उसने उन्हें उसी से मारना शुरू कर दिया। मारते-मारते जब गन्ना टूट गया, तब उसका क्रोध शान्त हुआ। किन्तु तुकाराम तो मौन रहकर मार खाते रहे और उन्होंने जब गन्ने को टूटा हुआ देखा, तो वे हँसते हुए बोले, "चलो अच्छा हुआ, इसके दो टुकड़े हो गये। एक को तू चूस और दूसरे को मैं चूसूँगा।"

क्रोध के प्रचण्ड दावानल के सामने क्षमा और प्रेम के अगाध-अनन्त समुद्र को देख उनकी पत्नी ने पश्चात्ताप में अपना सिर पीट लिया। तुकाराम ने जो देखा, तो अपनी पगड़ी के पल्ले से उसके आँसू पोंछे और गन्ना छीलकर उसे खिला दिया।

२. आँखों का अन्तर

स्निग्ध-गम्भीर स्वर से तामिल दिव्य-प्रबन्धों का पाठ करके आचार्य रामानुज धीर-गम्भीर गति से मन्दिर की परिक्रमा कर रहे थे। तभी अकस्मात् एक चाण्डाल स्त्री उनके सम्मुख आ गयी। आचार्यश्री के पैर ठिठक गये। प्रबन्ध-पाठ खण्डित हो गया, मुंह से ये परुष शब्द फूट पड़े––"हट जा चाण्डालिन, मेरे मार्ग को अपवित्र न कर।" चाण्डाल स्त्री हटी नहीं, बल्कि हाथ जोड़कर पूछ बैठी, "स्वामी, मैं सरकूँ किस ओर? मेरे चारों ओर तो पवित्रता है। अपनी अपवित्रता ले भी जाऊँ तो किस ओर?"

आचार्य ने इन शब्दों को सुना, तो मानो कोई परदा उन्हें अपनी आँखों के सामने से हटने का आभास हुआ। श्रद्धावनत हो उन्होंने कहा, "माता, क्षमा करो। तुम सचमुच परम पावन हो। हम सबको अपने भीतर का मैल ही बाहर दिखाई देता है, किन्तु जो मनुष्य भीतर की पवित्रता से अपनी आँखों को आँज लेता है, उसे अपने चहुँ ओर पावनता ही दिखाई देती है। माता, मेरा प्रणाम स्वीकार करो।"

३. देहधर्म पालन

चम्पानगरी के करोड़पति नगरसेठ के पुत्र सोण कोटि-विंश को न केवल अपने ऐश्वर्य वरन् सौन्दर्य पर भी बड़ा गर्व था। उसके वीरबभूटी से लाल तथा नवनीत से कोमल तलवों को, जिन पर मुलायम बाल भी उगे थे, देखने का कुतूहल सम्राट बिम्बसार को भी हुआ था। सोण एक बार गौतम बुद्ध के दर्शन हेतु गृध्रकूट पर्वत गया। उसने सौन्दर्य के मद में चूर होकर अपने तलवे उनके आसन की ओर पसार दिये। किन्तु तथा-गत के उपदेशों ने नश्वर सौन्दर्य के प्रति उसके मोह को दूर कर दिया।

भोग से विरक्त हो अब उसने तप का मार्ग अपनाया। शरीर को सहिष्णु बनाने के लिए वह कुश-कण्टकों से भरी भूमि पर विचरण करने लगा। उसके कोमल तलवों से रक्त की धार बह चली, किन्तु मन की अशान्ति-ज्वाला न बुझी। तभी तथागत पधारे। उन्होंने प्रेम से पूछा, "तूने कभी वीणा बजायी है?"

"हाँ, भन्ते!"

"तार ढीले होने पर क्या उससे उपयुक्त स्वर निक-लता है?"

"नहीं, भन्ते!"

"और तार अत्यन्त कसे होने पर?"

"तब भी नहीं, भन्ते!"

"तो भद्र, शरीर की भी यही प्रकृति है। असंयम से

अत्यन्त ढीला होने पर यह पुरुषार्थ-योग्य न रहेगा और अत्यधिक कठोर संयम से इसे पीड़ा पहुँचाने पर यह धर्म-पालन के योग्य न रहेगा ।"

४. कयामत के लिए अमानत

गुरु नानक एक बार बगदाद गये। वहाँ पर खलीफा का शासन था। वह बड़ा अत्याचारी था और जनता को लूट-खसोटकर अपना खजाना बढ़ाया करता था। एक बार खलीफा गुरु नानक से मिलने आया। नानक साहब ने अपने चारों ओर से एक सौ कंकड़ चुनकर जमा कर लिये थे। खलीफा को आश्चर्य हुआ। उसने पूछा, "आपने ये कंकड़ क्यों जमा किये हैं ?" नानक ने उत्तर दिया,"अमानत के रूप में आपके पास रखने के लिए।"

"पर इन्हें वापस कब ले जायेंगे ?" खलीफा ने पूछा। उत्तर मिला, "कोई जल्दी नहीं है। कयामत के दिन खुदा के दरबार में मैं भी होऊँगा। उसी समय आप इन्हें साथ लेते आयें।"

खलीफा अचम्भे में पड़ गया, बोला, "अरे नानक साहब, यह आप क्या फरमा रहे हैं ? कयामत के पाक दिन यह तुच्छ चीज कहीं साथ लायी जाती है !"

गुरु नानक गम्भीर स्वर में बोले, "खलीफा साहब,यह तो मैं भी जानता हूँ कि कयामत के दिन यहाँ की कोई चीज साथ नहीं ले जा सकते। वहाँ तो खुदा के सामने खाली हाथ खड़े होकर अपनी-अपनी करनी का हिसाब

देना पड़ता है। मगर आपने प्रजा को भूखों मारकर जो यह असीम धन जमा किया है, क्या आप इसे यहीं छोड़ जायेंगे ? अपनी तमाम धन-दौलत के साथ आप मेरे ये कंकड़ भी लेते जाइयेगा।" यह सुन खलीफा पानी-पानी हो गया और उसने प्रजा को तंग करना बन्द कर दिया।

५. मुक्ति का मार्ग

सन्त अबू हजम मक्की विद्वानों के मुकुटमणि और ज्ञान-वैराग्य के ज्वलन्त प्रतीक थे। एक दिन हाशम नामक एक गृहस्थ उनके पास आकर बोला, "हजरत, फानी दुनियाँ से लगाव नहीं टूटता, लेकिन मैं खुदा को भी नहीं छोड़ना चाहता। क्या कोई ऐसा रास्ता भी है कि जिससे मैं अपना दुनियावी धन्धा भी करता रहूँ और जन्नत भी पा जाऊँ ?"

अबू हजम मन्द-मन्द मुस्काये; बोले, "हाँ, ऐसा रास्ता है। वह यह कि तुम जो भी कमाओ, ईमानदारी से कमाओ और जो भी खर्च करो, दूसरों की भलाई के लिए खर्च करो।"

हाशम सन्दिग्ध हो उठा। "लेकिन इस रास्ते पर भला कोई चल सकता है ?" उसने पूछ ही लिया।

"जो भी खुदावंद की नजरे-इनायत का तलबगार होगा और जो दोजख की आग से बचना चाहेगा, वही इस रास्ते पर चल सकेगा। फानी दुनियाँ में रहते हुए खुदा को पाने का दूसरा कोई रास्ता नहीं।" सन्त ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया।

६. धन का अभिशाप

एक बार प्रभु ईसामसीह के पास एक व्यक्ति आया और बोला, "आपने स्वर्ग का द्वार खोल दिया है, अ मुझे वहाँ भेज दीजिए। मैं वहाँ जाने को इच्छुक हूँ।"

ईसा ने पूछा, "क्या तुम स्वर्ग में जाना चाहते हो?"

उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "जी हाँ।"

ईसा ने पुनः प्रश्न किया, "क्या सचमुच जाना चाहते हो?"

"जी", उत्तर मिला।

"सोच लो और सोचकर उत्तर दो?"

"जी हाँ, सोचकर ही मैंने उत्तर दिया है।"

"अच्छा तो अपने घर की तिजोरियों की चाबी मुझे दे दो?"

"मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

"तो जाओ, तुम स्वर्ग कदापि नहीं जा सकते, क्योंकि स्वर्ग जानेवालों में जो गुण होने चाहिए, वे तुममें नहीं हैं। लोभी लोगों के लिए वहाँ स्थान नहीं है और लोभ तुम्हारी रग-रग में समाया हुआ प्रतीत होता है।"

७. साधुता का परिणाम

एक बार भगवान महावीर कहीं जा रहे थे कि रास्ते में लोगों ने उनके पास आकर उन्हें आगे जाने से यह कहकर मना किया कि वहाँ एक भयानक सर्प रहता है, किन्तु महावीर उनकी बात अनसुनी कर आगे बढ़े। यह देख कुछ लोगों ने उन्हें पागल समझा, तो कुछ ने उन्हें

महात्मा माना। तथापि कुछ लोग कौतूहलवश उनके पीछे-पीछे हो चले। थोड़ी ही देर में साँप ने उन्हें देखा और उनके समीप आकर फुफकारकर विष छोड़ना आरम्भ किया। किन्तु महावीर ज्यों के त्यों खड़े रहे। सर्प ने जब देखा कि उसका विष उन पर प्रभावहीन साबित हुआ है तो उसने सोचा कि यह व्यक्ति निश्चित ही कोई महात्मा है। फिर भी उसने उनके अँगूठे को काट लिया। अचरज से उसने देखा कि खून के स्थान पर दूध बह रहा है। अब तो उसे पूर्णतया विश्वास हो गया और वह भी निश्चल पड़ा रहा। महावीर ने जब विषधर को शान्त देखा, तो बोले, "नागराज, मैं तुम्हारे समक्ष आत्मसमर्पण करता हूँ, मेरी देह को अपना आहार मानो।" अब तो सर्प को आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही एक देवपुरुष को काटा है। उसने तब बाँबी में अपना सिर डाल दिया। लोग यह देख विस्मित हो गये। उन्होंने यह जानने के लिए कि वह मृत है अथवा जीवित, उसे पत्थर से मारना शुरू किया। किन्तु वह शान्त ही पड़ा रहा। तब तो लोग उसे नागदेवता मानकर उसकी पूजा करने लगे और उसके सम्मुख दही और दूध की कटोरियाँ रखी जाने लगीं। इससे वहाँ चींटियाँ इकट्ठी हो गयीं और सर्प को शान्त देखकर चींटियों ने उसे अपना आहार बना लिया। विषधर पर महावीर की साधुता का प्रभाव पड़ चुका था। वह शान्त ही रहा और उसने चींटियों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। फलस्वरूप उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई।

अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

(गतांक से आगे)

यद्यपि कट्टर पादरीगण स्वामीजी के मार्ग में रोड़े अटकाने की कोशिश कर रहे थे, तथापि शिकागो का प्रबुद्ध वर्ग उनके गुणों का कायल हो चुका था। बड़े बड़े धनकुबेरों के द्वार उनके स्वागत के लिए खुल गये थे और लोग, विशेषकर, विदुषी, धनसम्पन्ना, सौन्दर्यमयी महिलाएँ उन्हें अपने यहाँ आमन्त्रित कर अपने को कृतकृत्य अनुभव करती थीं। वैभव और सौन्दर्य उनके चरणों-तले न्योछावर हो रहा था। किन्तु इस सबका उनके लिए कोई महत्त्व न था। उन्होंने तो कामिनी और कांचन का विषवत् त्याग किया था। उन्हें मान-अपमान, यश-अपयश किसी की चाहना न थी। एकमात्र ईश्वर को ही उन्होंने अपना जीवनाधार बनाया था। हिमालय की तलहटी में, राजस्थान की जलती हुई मरुभूमि में तथा दक्षिण के पठारों में जब वे भूखे-प्यासे, क्लान्त शरीर लिए भ्रमण कर रहे थे तब भी प्रभु ही उनके एकमात्र सम्बल थे, और आज जब वे विश्ववरेण्य हो गये हैं, कीर्ति उनके पैर चूम रही है, रूप और ऐश्वर्य उनके चरणों पर लुटा आ रहा है, तब भी उनका मन प्रभु के श्रीचरणों से विलग नहीं हुआ है। वह प्रलोभन

जिसका एक अंशमात्र भी साधारण व्यक्ति को उन्मत्त कर देने के लिए पर्याप्त था, वे आसानी से पचा गये। इस समस्त सुख-वैभव के बीच भी उनका मन सदैव अतीन्द्रिय राज्य में भ्रमण करता रहता। उनके प्रत्येक कार्य ईश्वर-समर्पित बुद्धि से होते। किस हद तक उन्होंने अपने आपको ईश्वर-समर्पित कर दिया था इसका परिचय उनके द्वारा प्राध्यापक राइट को लिखे पत्र में मिलता है। २ अक्तूबर, १८९३ को वे लिखते हैं--

...प्यारे भाई! विश्व के बड़े बड़े विचारकों और वक्ताओं की उस बड़ी सभा के सम्मुख मुझे पहले तो खड़े होने और बोलने में ही बड़ा डर लग रहा था। लेकिन ईश्वर ने मुझे शक्ति दी और मैंने प्रतिदिन साहस (?) से मंच और श्रोताओं का सामना किया। अगर सफल हुआ हूँ, तो उन्हीं की शक्ति से; और यदि मैं बुरी तरह असफल हुआ हूँ--इसका ज्ञान तो मुझे पहले से ही था--तो अपनी अज्ञानता के कारण।

आपके मित्र प्रो० ब्रेडले मेरे प्रति बड़े कृपालु रहे और उन्होंने मुझे हमेशा प्रोत्साहित किया। सभी लोग मुझ-जैसे नगण्य व्यक्ति के प्रति इतने कृपालु हैं कि वर्णन नहीं कर सकता। उस परमपिता का जय-जयकार हो जिसकी दृष्टि में भारत के इस अकिंचन और अज्ञानी संन्यासी तथा इस महादेश के परम विद्वान् धर्माचार्यों में कोई अन्तर नहीं है। और भाई, प्रभु किस प्रकार मेरी मदद कर रहे हैं! कभी कभी तो मैं चाहता हूँ कि

मुझे लाखों वर्षों की जिन्दगी मिल जाती ताकि मलिन वस्त्रों में लिपटा, भिक्षा पर निर्वाह करता हुआ कर्म के द्वारा उनकी सेवा करता रहता।...

यहाँ मैं अपने जीवन से समझौता कर रहा हूँ। मैं जीवन भर हर परिस्थिति को प्रभु से आती हुई मानकर शान्तिपूर्ण ढंग से अंगीकार करता तथा तदनुसार अपने को समायोजित कर लेता रहा हूँ। मैंने अमेरिका में जल के बाहर मछली की तरह अनुभव किया। मुझे भय था कि मुझे कहीं परमात्मा पर पूरी तरह निर्भरशील रहने का चिर अभ्यस्त मार्ग छोड़ अपनी चिन्ता का भार स्वयं न लेना पड़े। कितना बीभत्स और कृतघ्नतापूर्ण विचार था यह! अब मैं समझ रहा हूँ कि जिस ईश्वर ने मुझे हिमालय के हिमशिखरों पर और भारत की जलती भूमि पर पथ दिखलाया था, वही मेरी यहाँ भी सहायता कर रहा है। उस परम पिता की जय हो! अतः अब चुपचाप फिर से अपने पुराने रास्ते पर चल रहा हूँ। कोई मुझे भोजन और आश्रय देता है; कोई मुझे उस परमपिता के बारे में बोलने को कहता है और मैं जानता हूँ कि वे सब उसी के भेजे हुए आते हैं, और आज्ञा पालन करना मेरा काम है। मेरी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति वही कर रहा है। उसकी इच्छा पूर्ण हो!

'जो मुझ पर आश्रित है और अपने सारे अभिमान और संघर्ष का परित्याग करता है, मैं उसकी सारी

आवश्यकताओं की पूर्ति करता हूँ ।' (गीता ९।२२)

ऐसा ही एशिया में है, ऐसा ही योरोप में, ऐसा ही अमेरिका में और ऐसा ही भारत की मरुभूमि में भी। ऐसा ही अमेरिका के व्यापार के कोलाहल में भी। क्योंकि क्या वह यहाँ भी नहीं है? और यदि वह न हो, तो मैं यही समझूँगा कि वह चाहता है कि मैं मिट्टी की इस तीन मिनट की काया को अलग रख दूँ--आशा है कि मैं इसे सहर्ष त्याग सकूँगा--

भाई, हम लोग मिलें या न मिलें। यह तो वही जानता है। आप महान् पण्डित हैं, पवित्रात्मा हैं। मैं आपको या आपकी पत्नी को उपदेश देने का साहस नहीं कर सकता, पर आपके बच्चों के लिए वेदों के निम्नोक्त उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ--

'चारों वेद, विज्ञान, भाषा, दर्शन एवं सभी विद्याएँ मात्र आभूषणात्मक हैं। सच्ची विद्या एवं ज्ञान तो वह है, जो हमें उसके समीप ले जाता है जिसका प्रेम नित्य है।'

'वह कितना सत्य, कितना स्पृश्य एवं प्रत्यक्ष है, जिसके द्वारा हमारी त्वचा को स्पर्श का ज्ञान होता है, आँखें देखती हैं और संसार को उसकी वास्तविकता प्राप्त होती है।'

'उसको सुनने के पश्चात् कुछ भी सुनना शेष नहीं रहता। उसके दर्शन के बाद कुछ भी देखना बाकी नहीं बचता। उसकी प्राप्ति के पश्चात् किसी चीज की प्राप्ति शेष नहीं रह जाती।'

'वह हमारे चक्षु का चक्षु है, कानों का कान है, आत्माओं की आत्मा है ।'

मेरे प्यारे बच्चो, तुम्हारे पिता और माता से भी अधिक निकट वह है । तुम पुष्प की भाँति निर्दोष और पवित्र हो ! तुम ऐसे ही रहो और किसी दिन वह स्वयं प्रकट हो जायगा । प्रिय आस्टिन, जब तुम खेल रही होगी, तो तुम्हारे साथ एक दूसरा साथी भी खेलता होगा, जो तुमको किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक प्यार करता है । और ओह ! वह तो आमोद से परिपूर्ण है । वह सदा खेलता रहता है--कभी बहुत बड़ी गेंदों से, जिन्हें हम पृथ्वी और सूर्य कहते हैं और कभी तुम्हारी तरह छोटे बच्चों के साथ हँसता और खेलता है ।

मेरे प्यारे बच्चे, उसको देख सकना और उसके साथ खेलना कितनी विचित्र बात है ! जरा सोचो तो इसे ।

तो ऐसी उच्च मनःस्थिति लिए स्वामीजी शिकागो में निवास कर रहे थे । उनके पत्रों से पता लगता है कि महासभा के पश्चात् उन्होंने कुछ समय तक शिकागो को अपना प्रमुख केन्द्र बनाया था और वहीं से वे आसपास वक्तृता देने जाया करते थे । शिकागो में वे मुख्यतया श्री हेल के यहाँ अथवा श्री लियॉन्स के यहाँ निवास करते । दोनों परिवार स्वामीजी के अनन्य प्रशंसकों में से थे । लियॉन्स परिवार से उनका परिचय किस प्रकार हुआ यह हम उनकी दौहित्री कार्नेलिया कॉंगर द्वारा लिखे संस्मरण में पा चुके हैं । कालान्तर में श्री हेल का

परिवार एक प्रकार से उनके लिए घर ही हो गया था। जब भी वे शिकागो आते, वहीं निवास करते। श्रीमती हेल उनकी अनुपम सौम्यता तथा बालसुलभ निर्मलता देखकर अत्यन्त प्रभावित हुई थीं तथा उन्हें पुत्रवत् स्नेह करती थीं। वे उनके बारे में लिखती हैं--

"...वह महान् और प्रतिभाशाली आत्मा जो धर्म-महासभा में अवतरित हुआ, ईश्वर के प्रेम में ऐसा डूबा हुआ था कि उसका मुखमण्डल सदैव दैवी आभा से देदीप्यमान रहता। उसकी वाणी मानो आग थी। उसकी उपस्थिति मात्र से एक समरसता और पवित्रता का वातावरण निर्मित हो जाता और सब लोग उसकी ओर आकर्षित हो जाते।"

शिकागो के प्रवास-काल में उनका मन कितने उच्च आध्यात्मिक धरातल पर आरूढ़ रहता इसकी जानकारी देते हुए उनके शिष्य श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती ने सन् १९३९ में शिकागो स्थित विवेकानन्द वेदान्त सोसायटी के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी विश्वानन्द को लिखा था--

"स्वामीजी ने एक बार मुझे बताया कि एक दिन चाँदनी रात में जब वे मिशिगन झील के किनारे बैठे हुए थे, उनका मन ब्रह्म में लीन होने लगा। अकस्मात् उन्हें श्रीरामकृष्ण देव दीख पड़े और उन्हें उस कार्य की याद हो आयी जिसके सम्पादन के लिए वे इस संसार में आये थे। यह विचार आते ही उनका मन नीचे उतरने लगा और पुनः अपने उद्देश्य की पूर्ति में लग गया। इस घटना

को मैंने अपनी डायरी में लिख लिया था, परन्तु इसे सर्व-साधारण के बीच बताना आवश्यक नहीं समझा। इसी लिए मैंने अभी तक इसे नहीं छपवाया। केवल आपको पहली बार बतला रहा हूँ।"

एक और घटना है। उन दिनों स्वामीजी हेल परिवार के साथ रह रहे थे। श्री हेल के बँगले के पास ही लिंकन पार्क था। स्वामीजी कभी कभी खुली धूप और शीतल वायु का आनन्द उठाने पार्क में जा बैठते। ठीक इसी समय एक युवा महिला अपनी छः-सात बरस की बच्ची को लेकर बाजार जाने के लिए निकलती। प्रायः रोज स्वामीजी को वहाँ बैठा देख वह एक दिन उनके पास आयी और उनसे अनुरोध किया कि क्या वे उसकी बच्ची को, उसके बाजार से लौटते तक सँभालने का कष्ट करेंगे। स्वामीजी ने सहर्ष इसकी स्वीकृति दे दी। उस दिन से वह महिला प्रतिदिन बच्ची को स्वामीजी के पास छोड़ बाजार चली जाती और बच्ची मजे से स्वामीजी के पास खेलती रहती। कहानी यहीं खत्म नहीं होती। जब वह बालिका पन्द्रह या सोलह वर्ष की हुई, एक दिन उसकी माँ को स्वामीजी का एक चित्र मिला। तब तक वह उनकी विश्वव्यापी ख्याति से अवगत हो चुकी थी। अपनी पुत्री को वह चित्र दिखलाते हुए उसने कहा, "क्या अपने मित्र को पहिचानती हो ?" वह शीघ्र ही पहिचान गयी, क्योंकि एक बार स्वामीजी को देखकर भूलना कठिन था। बाद में लड़की को शादी हो गयी और वह

फिलाडेल्फिया चली गयी। पर उसे स्वामीजी की स्मृति बराबर बनी रही और वह आध्यात्मिक जीवन की ओर आकृष्ट हुई। कालान्तर में वह स्वामी अखिलानन्द की शिष्या बनी जो वहाँ भक्तों से मिलने यदा-कदा आया करते थे। श्रीमती बर्क 'न्यू डिस्कवरी' में लिखती हैं, "जाने ऐसी कितनी छोटी छोटी घटनाएँ उनके अमेरिका-प्रवास के दौरान घटी होंगी, जाने कितने लोगों को उनकी अकस्मात् मुलाकात ने, उनके स्पर्श ने, अथवा उनकी दृष्टिमात्र ने उच्चतर जीवन की राह में अग्रसर कराया होगा, इसकी हम कल्पना मात्र ही कर सकते हैं।"

शिकागो में स्वामीजी की ख्याति दिनोंदिन बढ़ती जा रही थी। उनकी गहन आध्यात्मिक शक्ति से आकर्षित हो अनेक लोग अपनी व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान पाने के लिए उनके पास आया करते और उनकी मधुर आशाप्रद वाणी सुन मानसिक शक्ति-लाभ करते। ऐसी ही एक घटना उस जमाने की सुप्रसिद्ध फ्रेंच गायिका मादाम एम्मा काल्वे के साथ घटी थी जिसने उसके जीवन को एक नया मोड़ दे दिया था।

सन १८९४ के मार्च में मादाम काल्वे मेट्रोपॉलिटन ऑपेरा कम्पनी के साथ शिकागो आयी थी। उस समय वह यश और कीर्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गयी थी। सारा संसार उसके पीछे पागल था। समाज के वैभवशाली गण्यमान्य व्यक्ति उसके एक इशारे पर अपनी जान बिछाये रहते। किन्तु दोनों महाद्वीपों की यह

आराध्या स्वभाव से जिद्दी, उग्र, अस्थिर और इन्द्रिय-परायण थी। वह शीघ्र ही भावुकता में बह जाती। उसके मन में शान्ति न थी। इसी समय उसके जीवन में एक भयानक दुर्घटना घटी। उसकी एकमात्र कन्या जो उसके जीवन का आधार थी तथा जिसे वह प्राणपण से चाहती थी, अग्निकाण्ड की शिकार हो गयी। उस समय वह आपेरा में अपना कार्यक्रम दे रही थी। उस दिन उसका कार्यक्रम सब दिनों की अपेक्षा अत्यधिक सफल हुआ था और वह आनन्दविभोर हो उठी थी। ऐसे ही समय में उसे अपनी बच्ची के निधन का समाचार मिला। वह बेहोश हो गयी। बाद में उसकी अवस्था विक्षिप्त की-सी हो गयी। अनेक बार उसने आत्महत्या करने की कोशिश की, पर सफल न हुई। इसी समय उसकी एक मित्र ने, जिसके यहाँ स्वामीजी ठहरे हुए थे, उसे सलाह दी कि वह उसके घर आये और स्वामीजी से मिले। किन्तु उसने इन्कार कर दिया। उसके मन में केवल आत्महत्या की ही बात उठती थी और वह भी झील में डूबकर। तीन बार वह मरने के इरादे से घर से निकली, झील की ओर अग्रसर हुई पर प्रत्येक बार उसने अपने को अपनी मित्र के घर के मार्ग में पाया, जहाँ स्वामीजी ठहरे थे। उसे लगता जैसे वह स्वप्न से जगी हो। और प्रत्येक बार वह घर लौट आती। अन्त में चौथी या पाँचवी बार वह पुनः आत्महत्या के इरादे से निकली। और आश्चर्य! उसने पुनः अपने आपको

स्वप्नाविष्ट दशा में अपनी मित्र के घर के सामने खड़ा पाया । नौकर के दरवाजा खोलने पर वह अन्दर प्रविष्ट हुई और बैठकखाने में जाकर आरामकुर्सी में निढाल हो गयी । जाने कब तक इसी अवस्था में पड़ी रही । तभी एक मृदु मधुर ध्वनि पास के कमरे से आती हुई सुनायी पड़ी––बच्ची, भीतर आ जाओ, डरने की कोई बात नहीं । और वह स्वचालित यंत्र की भाँति उस कमरे में पहुँच गयी जहाँ से आवाज आयी थी । वह एक अध्ययन-कक्ष था । एक बड़ी मेज के पीछे स्वामीजी बैठे हुए थे । बाद की घटना श्रीमती काल्वे के स्वयं के शब्दों में यों है––

मैंने कमरे में प्रवेश किया और उनके सामने कुछ देर मौन खड़ी रही । वे ध्यान की मुद्रा में बैठे हुए थे । उनका गेरुआ परिधान जमीन को छू रहा था । सिर पर पगड़ी विद्यमान थी तथा उनकी दृष्टि नीचे की ओर थी । कुछ क्षणों बाद बिना सिर उठाये वे बोले, "मेरी बच्ची, तुमने अपने चारों ओर कैसा अशान्तमय वातावरण बना रखा है ! शान्त होओ ! यह आवश्यक है !"

फिर स्निग्ध वाणी में, वह शान्त और एकाकी व्यक्ति जो मेरा नाम भी न जानता था, मेरी व्यक्तिगत समस्याओं, दुःख और कष्टों के बारे में बातें करने लगा । उसने उन बातों की चर्चा की जो, मैं सोचती हूँ, मेरे अत्यन्त निकट के मित्रों को भी नहीं मालूम । यह तो मेरे लिये अलौकिक और अतिमानवीय था ।

"आप यह सब कैसे जान गये ?" मैंने अन्त में पूछा,

"आपको मेरे बारे में किसने बतलाया ?"

स्निग्ध मुस्कान बिखेरते हुए उन्होंने मेरी ओर देखा जैसे मैं कोई बच्ची हूँ जिसने कोई मूर्खतापूर्ण प्रश्न पूछ दिया हो।

"मुझसे किसी ने नहीं कहा", वे शान्त भाव से बोले, "क्या तुम समझती हो कि कहना आवश्यक है ? मैं तुम्हारा भीतर उसी तरह पढ़ सकता हूँ जैसे कोई खुली पुस्तक।"

अब मेरे लौटने का समय हो चुका था।

जैसे ही मैं जाने के लिए खड़ी हुई, वे बोले, "तुम्हें वह सब भूल जाना चाहिए। पुनः आनन्द और उत्साह से रहो। अपना स्वास्थ्य बनाओ। एकान्त में चुपचाप बैठकर बीते दुःख-प्रसंगों को मत गुनो। अपने अन्तर के भावावेग को कोई एक बाह्य रूप दो। तुम्हारे आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है। तुम्हारी कला के लिए यह निहायत जरूरी है।"

उनके वचनों से तथा उनके व्यक्तित्व से अत्यधिक प्रभावित हो मैं वापस लौटी। मुझे महसूस होने लगा कि उन्होंने मेरे व्याधिग्रस्त मस्तिष्क की समस्त कुण्ठाओं को दूर कर उसे अपनी पवित्र और शान्तिमय भावराशि से पूरित कर दिया है।

उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के फलस्वरूप मैं पुनः एक बार आशावान् और प्रफुल्लित हो उठी। उन्होंने किसी सम्मोहन अथवा वशीकरण शक्ति का प्रयोग नहीं किया था।

यह तो उनके चरित्र की दृढ़ता और उनके उद्देश्य की निर्मलता का अटूट प्रभाव था जिसने मेरे मन में विश्वास जगा दिया। उनसे घनिष्ठ परिचय होने के पश्चात् मैंने देखा कि वे लोगों की विशृंखल चंचल विचारधाराओं को शान्त कर धीरभाव से उन्हें अपने विचारों को ग्रहण करने योग्य बना देते थे, जिसके फलस्वरूप लोग उनकी बातें पूर्ण मनोयोग के साथ, स्थिर भाव से सुनने में समर्थ होते थे।

वे बहुधा छोटी छोटी कहानियों के सहारे उपदेश देते, कवित्वमय दृष्टान्तों द्वारा हमारे प्रश्नों का उत्तर प्रदान करते तथा स्वयं की बात सहज में समझा देते। एक दिन हम लोग आत्मा के अमरत्व तथा व्यक्तिगत गुणों के चिरस्थायित्व पर चर्चा कर रहे थे। वे पुनर्जन्मवाद के प्रति अपने विश्वास का विवेचन करने लगे जो कि उनके उपदेश का मौलिक आधार था।

"मैं इस विचार को सहन नहीं कर सकती", मैं बोल उठी, "चाहे मेरा व्यक्तित्व कितना नगण्य क्यों न हो, मैं उसे लेकर ही रहना चाहती हूँ। मैं उस शाश्वत एकत्व में अपने आपको एकरूप कर देना नहीं चाहती। इसकी कल्पनामात्र ही मेरे लिए भयावह है।"

स्वामीजी बोले, "एक दिन एक जल की बूंद विशाल सागर में गिर पड़ी। जब उसने अपने को वहाँ पाया तो वह तुम्हारे ही समान रोने और शिकायत करने लगी। महासागर उसकी ओर देख हँसने लगा और पूछा, 'मैं

समझ नहीं पा रहा हूँ आखिर तुम रो क्यों रही हो ? जब तुम मुझमें मिल गयीं, तब तो अपने सब भाई-बहनों से भी मिल गयीं जो तुम्हारे ही समान जल की विभिन्न बूँदें हैं। उन्हीं बूँदों से मैं बना हूँ। और इस तरह तो तुम समुद्र ही हो गयीं। यदि तुम मुझे त्यागना चाहो तो तुम्हें रवि-रश्मियों के सहारे पुनः बादलों पर चढ़ना होगा और वहाँ से पुनः क्षुद्र जलकण होकर गिरना पड़ेगा; तभी तुम प्यासी धरती के लिए मंगलस्वरूप होगी।"

श्रीमती बर्क उस समय की एक और घटना का उल्लेख करती हैं जिसे मादाम काल्वे ने मादाम वर्डियर को सुनाया था तथा उसे मादाम वर्डियर ने नोट कर लिया था। वह घटना अमेरिका के धनकुबेर जॉन डी० राक-फेलर से सम्बन्धित है। वे लिखती हैं--

जिन सज्जन के घर पर स्वामीजी निवास कर रहे थे वे जॉन डी० राकफेलर के साथ किसी व्यापार में साझेदार थे अथवा उनसे सम्बन्धित थे। राकफेलर ने अनेक बार अपने इन मित्र के मुख से इस अलौकिक प्रतिभासम्पन्न हिन्दू संन्यासी के बारे में सुना था। उनके मित्र ने उन्हें कई बार स्वामीजी से साक्षात्कार करने का निमन्त्रण भी दिया, पर वे एक न एक कारण बता, बराबर टालते ही रहे। उस समय राकफेलर अपनी समृद्धि के चरमोत्कर्ष पर नहीं पहुँचे थे। फिर भी वे काफी सशक्त और दृढ़ इच्छाशक्ति से युक्त थे। उन्हें

अपने मत में लाना अथवा परामर्श देना अत्यन्त कठिन कार्य था।

यद्यपि उनकी इच्छा स्वामीजी से मिलने की नहीं थी तथापि एक दिन किसी अन्त:प्रेरणा के आवेग के कारण वे अपने मित्र के घर आ पहुँचे और दरवाजा खोलनेवाले बटलर को एक ओर ठेलते हुए बोले कि वे हिन्दू संन्यासी को देखना चाहते हैं। बटलर उन्हें शयन-कक्ष में ले गया। इसके पहले कि स्वामीजी को उनके आने की खबर मिले, वे स्वामीजी के पार्श्ववर्ती अध्ययन-कक्ष में जा पहुँचे। स्वामीजी अपने लिखने की मेज के पीछे बैठे हुए थे। किसने कक्ष में प्रवेश किया यह देखने के लिए उन्होंने आँख तक न उठायी। राकफेलर के लिए यह एक आश्चर्यजनक बात थी।

कुछ समय बाद स्वामीजी ने मादाम काल्वे के समान राकफेलर के भी बीते दिनों की बहुत सी बातें बतायीं जो उनके स्वयं को छोड़ अन्य किसी को मालूम न थीं। स्वामीजी ने उन्हें समझाने का प्रयास किया कि जो राशि उन्होंने एकत्रित की है वह उनकी नहीं है, वे तो निमित्तमात्र हैं और उनका कर्तव्य है संसार का हित करना। ईश्वर ने उन्हें इसी उद्देश्य से धन-दौलत दी है कि वे उसके द्वारा लोगों की सहायता करने तथा उनकी भलाई करने का सुयोग प्राप्त कर सकें।

राकफेलर के लिए यह असह्य था कि कोई उनसे इस तरह की बात करे और कोई कार्य करने का निर्देश

दे। वे कुपित हो उठे और गुस्से के मारे बिना किसी अभिवादन के कमरे से बाहर निकल गये। किन्तु एक सप्ताह बाद वे पुनः बिना किसी पूर्व सूचना के स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में जा पहुँचे। स्वामीजी उसी तरह बैठे हुए थे। उन्होंने पास पहुँचकर एक कागज का टुकड़ा टेबल के ऊपर फेंक दिया। उस कागज पर उनके द्वारा एक सार्वजनिक संस्था के लिए विपुल अर्थराशि के दान की योजना लिखी हुई थी।

"लीजिए, अब तो आपको सन्तोष हुआ ?" राकफेलर बोले, "इसके लिए आप मुझे धन्यवाद दे सकते हैं।"

स्वामीजी ने अपनी आँखें तक नहीं उठायीं, घुमायी तक नहीं। कागज को लेकर धीर भाव से पढ़ा और बोले, "उचित तो यह है कि धन्यवाद आप मुझे दें।" बस इतना ही हुआ, और यह राकफेलर का सर्वसाधारण के कल्याण के लिए प्रथम विशाल दान था !

(क्रमशः)

★ न परः पापमादत्ते परेषां पाप-कर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्र-भूषणः ।।

—श्रेष्ठ पुरुष दूसरे पापाचारी प्राणियों के पाप को नहीं ग्रहण करता, उन्हें अपराधी मानकर उनसे बदला लेना नहीं चाहता। इस उत्तम सदाचार की सदा रक्षा करनी चाहिए; क्योंकि सदाचार ही सत्पुरुषों का भूषण है।

—वाल्मीकि

प्रश्न– भय की भावना को कैसे जीता जा सकता है ?

–डा. हरगोविन्द सिंह, पटना

उत्तर– सभी प्रकार के भय को दूर करने का एक ही उपाय है–वह है अपने आपको श्री भगवान् के प्रति समर्पित कर देना। एक समय मैं हिमालय की तराई में था। वन्य पशुओं से बड़ा भय लगता था। भय की इस भावना से साधना में भी बाधा उपस्थित होती थी। एक महात्मा मेरी अवस्था देखकर बोले, 'सोचकर देखो, तुम्हें किसलिए इतना भय लगता है ? तुम्हें मृत्यु का ही डर है न ?' मैंने विचार कर देखा कि हाँ, प्रकारान्तर में मृत्यु-भय ही मुझे पीड़ित कर रहा है; यह सोचकर ही तो मुझे डर लगता है कि वन्य पशु मुझ पर आक्रमण करके कहीं मेरा खात्मा न कर दें। तब महात्माजी बोले, 'देखो, यदि तुम्हारे भाग्य में वन्य पशु के हाथों मौत लिखी हो तो कोई उसे नहीं टाल सकता। और यदि न लिखी हो, तो जंगल का कोई जानवर सामने आ जाने पर भी तुम्हारा बाल बाँका न कर सकेगा। मानते हो इस तर्क को ?' तर्क तो बिलकुल ठीक था। महात्मा जी ने पुन: कहा, 'अब कुछ दिन तुम इसी सत्य पर ध्यान करो।' मैंने वैसा ही किया। इस से ईश्वर की इच्छा के प्रति समर्पण-भाव दृढ़ हुआ और भय की भावना धीरे धीरे चली गयी।

अतः भगवान् के प्रति समर्पण का भाव दृढ करें। भल-अनभल सबमें उन्हीं की इच्छा को अनुभव करने का प्रयास करें। अवश्य यह समर्पण-भाव एकदम से नहीं आ जायेगा। इसके लिए अध्यवसायपूर्वक प्रयास करना होगा। जब यह भाव सधने लगेगा तो भय की भावना अपने आप तिरोहित होने लगेगी।

प्रश्न– कहा जाता है कि ईश्वर से लौकिक कुछ भी नहीं माँगना चाहिये। जब ईश्वर ही हमारे सब कुछ हैं तब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनसे प्रार्थना करने में क्या दोष है?

– देवल व्यास, अहमदाबाद

उत्तर– यह स्वाभाविक है कि मनुष्य अपने अभावों की पूर्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है। आध्यात्मिक शास्त्र-ग्रन्थ जब कहते हैं कि ईश्वर से लौकिक कुछ न माँगो तो तात्पर्य यह है कि जब हम ईश्वर से कुछ माँगते हैं तो हमारा ध्यान ईश्वर पर केन्द्रित न होकर अभीसिप्त वस्तु पर केन्द्रित हो जाता है और इस प्रकार हम ईश्वर से दूर हट जाते हैं। यदि यह कहो कि भगवान् से भक्ति, मुक्ति की माँग करना भी तब क्या दोषयुक्त न होगा, तो उत्तर यह है कि नहीं; क्योंकि यदि हम भक्ति-मुक्ति की याचना करें तो हमारा ध्यान भक्ति-मुक्ति पर केन्द्रित होगा और इस प्रकार हम ईश्वर का ही चिन्तन-मनन करेंगे। लौकिक वस्तुएँ मन को अपने में अटका लेती हैं और हमें आध्यात्मिक लक्ष्य से दूर कर देती हैं। यही कारण है कि ईश्वर से लौकिक वस्तुएँ माँगने का अध्यात्म-पथ में निषेध किया जाता है।

फिर, एक ही वस्तु की माँग होती तो बात कुछ समझ में भी आ सकती थी। पर माँग का यह सिलसिला कभी खत्म नहीं होता। हम सोचते हैं कि यह अभाव दूर हो जाय तो ईश्वर से हम कुछ न माँगेंगे। पर देखते हैं कि वह अभाव दूर होने पर

एक दूसरा अभाव हमें उसी तीव्रता के साथ सताने लगता है और हम पुनः ईश्वर के समक्ष याचक हो जाते है। दूसरी ओर, यदि अभाव दूर न हुआ तो ईश्वर पर आस्था डगमगाने लगती है।

अतएव, यदि ईश्वर से कुछ माँगना ही है तो उन्हीं को माँगो–उनके चरणों में शुद्ध भक्ति और विवेक-विश्वास की याचना करो। जब कहते हो कि वे तुम्हारे सब कुछ हैं, तो उनसे माँगना क्यों ? जो हमारा सर्वस्व होता है उससे हम कुछ माँगते नहीं, बल्कि उसे देखकर सुखी होते हैं। अतएव यदि ऐसी आस्था है कि ईश्वर हमारे सर्वस्व हैं तो अपना प्रेम उन्हें दो, अपना सब कुछ उन्हीं को लुटा दो। देखोगे जीवन आनन्द से भर जायेगा।

प्रल्हाद से प्रसन्न हो, श्री नृसिंह भगवान् ने जब उन्हें वर माँगने के लिए कहा, तो प्रल्हाद ने यही याचना की थी, 'प्रभो ! यदि मुझ पर इतने प्रसन्न हैं तो कृपा करके यही वरदान दीजिए कि मुझे कुछ माँगने की चाह न हो !'

भगवान् से यही माँग सर्वोत्तम है। पर ऐसे ऊँचे भाव में हमारी स्थिति धीरे धीरे ही हो पाती है।

★ क्रोधः प्राणहरः शत्रुः क्रोधोमितमुखो रिपुः।
क्रोधोऽसिः सुमहातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति।
तपते यतते चैव यच्च दानं प्रयच्छति।
क्रोधेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विवर्जयेत्॥

–क्रोध प्राणनाशक शत्रु है, क्रोध अपरिमित मुखवाला वैरी है; क्रोध बड़ी तेज धार तलवार है, क्रोध सब कुछ हर लेता है। मनुष्य जो तप, संयम और दान आदि करता है, उस सबको वह क्रोध के कारण नष्ट कर डालता है। अतएव क्रोध का त्याग करना चाहिए।

–वामन पुराण

आश्रम समाचार

(१ सितम्बर से ३० नवम्बर तक)

१. 'विवेकानन्द सत्संग भवन' का उद्घाटन एवं 'श्रीरामकृष्ण-मन्दिर' का शिलान्यास.

आश्रम के इतिहास में ६ नवम्बर का दिन अविस्मरणीय रहेगा, जब पहली बार रामकृष्ण मठ एवं मिशन के पूज्यपाद अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज रायपुर पधारे। आश्रम में उनके ९ दिन के अवस्थान काल में मानो आध्यात्मिक प्रवाह बली होकर प्रवाहित हो रहा था। १३ नवम्बर की सन्ध्या लोगों की भीड़ आश्रम में नवनिर्मित' विवेकानन्द सत्संग भवन' के उद्घाटन-समारोह को देखने के लिए उमड़ती चली आ रही थी। सत्संग-भवन का विशाल हॉल ठसाठस भर गया। 'तिल रखने की भी जगह नहीं थी' इस कहावत को उस दिन चरितार्थ होते देखा गया। बरामदे भी उत्सुक दर्शकों एवं श्रोताओं से खचाखच भरे थे। नीचे मैदान में भी लोग बडी संख्या में, ऊपर स्थान न मिलने के कारण, बैठे या खड़े थे। अनुमानतः लगभग २००० लोग उस दिन उपस्थित थे।

ठीक ६॥ बजे संध्या पूज्यपाद स्वामीजी महाराज सत्संग-भवन में प्रविष्ट हुए। महन्त लक्ष्मीनारायण दास जी ने आश्रम एवं नगर की ओर से पू. स्वामीजी का माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया। तदनन्तर स्वामीजी महाराज ने भगवान् श्रीरामकृष्ण देव, श्री माँ सारदा एवं स्वामी विवेकानन्द के तैल-चित्रों का अनावरण कर, औपचारिक रूप से सत्संग-भवन का उद्घाटन सम्पन्न किया। ज्योंही पू. महाराजजी ने फीते को काटा कि चित्रों पर लगा परदा अपने आप नीचे सरककर झूल गया, प्रकाश झलमला उठा, पुष्प

(१) पूज्यपाद महाराजजी भगवान् श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ एवं स्वामी विवेकानन्द के तैल-चित्रों का अनावरण कर, 'विवेकानन्द सत्संग भवन' का औपचारिक उद्घाटन करते हुए।

(२) पूज्यपाद महाराजजी उद्घाटन-भाषण देते हुए।

महन्त लक्ष्मीनारायण दास पूज्यपाद महाराजजी का स्वागत करते हुए।

स्वामी आत्मानन्द आश्रम की रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए।

झरने लगे एवं शंखनाद एवं तालियों की गड़गड़ाहट से वातावरण मधुमय हो उठा। दर्शक विस्मय-विमुग्ध हो यह दृश्य अपलक नेत्रों से निहारते रहे।

तदन्तर अपने उद्घाटन-भाषण में पूज्यपाद स्वामीजी महाराज ने आशीर्वचन देते हुए कहा, "जिस वेदान्त के उदात्त तत्त्वों को श्रीरामकृष्ण देव ने अपने जीवन में साकार किया तथा स्वामी विवेकानन्द ने जिस की विजय-दुन्दुभी विश्व में सर्वत्र बजायी एवं जिसकी युगानुकूल, सहज, सरल व्याख्या सर्वसाधारण के लिए प्रस्तुत की, उसी वेदान्त की विमल धारा इस सत्संग-भवन से प्रवाहित हो; और यह केवल रायपुर के लिए नहीं बल्कि समूचे छत्तीसगढ़ के लिए प्रेरणा का केन्द्र बन जाय।"

१४ नवम्बर की सुबह ९। बजे शुभ बेला में पूज्यपाद महाराजजी ने 'श्रीरामकृष्ण मन्दिर' का सामगान और शंखनाद के मिले-जुले मधुर स्वर के बीच विधिवत् शिलान्यास किया। वह भी एक अनोखा पावन दृश्य था। तब मानो आध्यात्मिकता साकार होकर आश्रम की धरती पर विचरण कर रही थी।

नवम्बर के अन्त तक सत्संग-भवन पर कुल ७९२०७) ४८ की राशि खर्च हुई है। आलोच्य अवधि में उदारचेता दानी व्यक्तियों से २८७०६) २५ की राशि दानस्वरूप प्राप्त हुई है। सत्संग-भवन को पूरी तरह सज्जित करने तथा बकाया बिलों का भुगतान करने के लिए १५०००) की और आवश्यकता है।

२. विवेकानन्द धर्मार्थ औषधालय

एलोपैथी विभाग— उपर्युक्त ३ माह की अवधि में कुल ११७०२ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गयी जिनमें ३२१३ रोगी नये थे। इनमें ९८ रोगी क्रानिक उदर-रोग से पीड़ित थे। ४२३ रोगियों को निःशुल्क विभिन्न प्रकार के इंजेक्शन और टीके लगाये गये तथा ७१ दन्त-रोगियों के दाँत निकाले गये। अगस्त

६९ से एक नेत्र-विभाग भी प्रारम्भ किया गया जो प्रति मंगलवार सुबह ७॥ से ८॥ खुला रहता है। इसके मानसेवी चिकित्सक हैं डा. कृष्णमूर्ति जनस्वामी। इस अल्प अवधि में आँख के रोगियों की संख्या ३६ थी।

होमियोपैथी विभाग– इस विभाग द्वारा ३६२९ रोगियों का निःशुल्क उपचार किया गया जिनमें ७५५ रोगी नये थे।

३. विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थालय और निःशुल्क वाचनालय

३० नवम्बर को ग्रन्थालय में १२८३९ पुस्तकें थीं तथा सदस्यों की संख्या ४०९ थी। उक्त अवधि में ३३५५ पुस्तकें निर्गमित की गयीं। वाचनालय में ८३ पत्र-पत्रिकाएँ, दैनिक समाचार-पत्र आदि थे। इस अवधि में लगभग ८५०० पाठकों ने वाचनालय का उपयोग किया।

४. विवेकानन्द विद्यार्थी भवन

विद्यार्थी भवन द्वारा संचालित अध्ययन वर्ग के अन्तर्गत ८ बौद्धिक कक्षाएँ हुईं। गाँधी-शताब्दी के निमित्त एक परिसंवाद का आयोजन किया जिसमें ८ विद्यार्थियों ने वक्ता के रूप से भाग लिया। १ भजन-संगीत का विशेष कार्यक्रम भी रखा गया।

५. धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम

साप्ताहिक सत्संग– रविवासरीय गीता-प्रवचनमाला के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ७, १४, २१ सितम्बर, ५, १२, अक्तूबर तथा २ नवम्बर को गीता पर प्रवचन दिया। इस प्रकार उनके अब तक गीता पर कुल ७४ प्रवचन हो चुके हैं।

२८ सितम्बर को श्रीप्रेमचन्द जैस की रामायण-कथा हुई।

२५ सितम्बर, १६ अक्तूबर और २३ नवम्बर को श्री सन्तोषकुमार झा का 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' पर ११ वाँ, १२ वाँ और १३ वाँ प्रवचन हुआ।

११,१८ सितम्बर, ९,३० अक्तूबर को डा. अशोक कुमार बोरदिया ने 'पातंजल योगसूत्र' पर प्रवचन दिया । उनके अब तक इस विषय पर २३ प्रवचन हो चुके हैं ।

२, २३ अक्तूबर तथा ३० नवम्बर को प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा ने 'हिन्दू धर्म' पर १५ वाँ, १६ वाँ और १७ वाँ व्याख्यान प्रदान किया ।

आश्रम में अन्य कार्यक्रम– ४ सितम्बर को जन्माष्टमी-उत्सव मनाया गया । इस दिन 'भगवान् श्रीकृष्ण की भारत को देन' इस विषय पर एक परिसंवाद रखा गया जिसकी अध्यक्षता स्वामी आत्मानन्द ने की । डा. नरेन्द्र देव वर्मा ने साहित्य के क्षेत्र में श्रीकृष्ण की भारत को क्या देन है इस पर चर्चा की । इसी प्रकार प्राध्यापक लक्ष्मीकान्त शर्मा एवं डा. गंगाप्रसाद गुप्त ने क्रमशः दर्शन और राजनीति के क्षेत्रों में श्रीकृष्ण की देन पर विचार प्रस्तुत किये ।

१९ अक्तूबर को नवरात्रि के उपलक्ष में 'शक्तितत्त्व' पर एक परिसंवाद स्वामी आत्मानन्द की अध्यक्षता में आयोजित किया गया । इसमें भाग लेनेवाले वक्ता थे डा. नरेन्द्र देव वर्मा और प्राध्यापक लक्ष्मीकान्त शर्मा ।

२४,२५ और २६ अक्तूबर को अलौकिक प्रतिभासम्पन्न १३ वर्षीया कुमारी सरोजबाला के प्रवचन हुए । हजारों की संख्या में नर-नारियों ने इस कार्यक्रम में भाग लिया । ६ नवम्बर को पूज्यपाद श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज की उपस्थिति में, विशेष अनुरोध पर, कुमारी सरोजबाला का एक और प्रवचन हुआ । प्रवचन का विषय पूज्यपाद महाराज जी ने प्रवचन के ५ मिनट आगे सरोजबालाके समक्ष रखा। विषय था–'शरणागति-रहस्य" । जिस अपूर्व कुशलता, वाग्मिता और विद्वत्ता के साथ बालिका ने १।। घंटे तक विषय का प्रतिपादन किया उसे देखकर

उपस्थित विशाल जनसमूह मुग्ध और दंग हो गया। प्रवचन के उपरान्त पूज्यपाद महाराज जी ने बालिका को हार्दिक आशीर्वाद प्रदान किया।

स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम– १४ सितम्बर को भिलाई-स्थित श्रीरामकृष्ण सेवा मण्डल द्वारा संचालित विवेकानन्द अध्ययन वर्ग के अन्तर्गत आठवाँ व्याख्यान। १५ सितम्बर को अकलतरा (बिलासपुर) में 'विवेकानन्द पुस्तकालय' का उद्घाटन। उसी रात्रि वहीं 'धर्म की आवश्यकता क्यों' विषय पर सार्वजनिक सभा को सम्बोधन। १९ सितम्बर को चिरमिरी (सरगुजा) में 'शिक्षक-संघ' का उद्घाटन। २० सितम्बर को रायगढ़ में महाराष्ट्र मंडल गणेशोत्सव के तत्त्वावधान में आयोजित सार्वजनिक सभा को 'मानव-जीवन का प्रयोजन' इस विषय पर सम्बोधन। २८ सितम्बर को इन्दौर में राजवाड़ा के गणेश हॉल में भारत जैन महामण्डल की ओर से आयोजित 'विश्व मैत्री दिवस' में 'विश्व मैत्री के तत्त्व' पर प्रमुख अतिथि के रूप में भाषण।

४ अक्तूबर को लायन्स क्लब, गोंदिया के तत्त्वावधान में भंगी मुहल्ले में खोदे गये कुएँ का उद्घाटन। उस रात्रि ८ बजे उक्त क्लब की ओर से संचालित 'प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र' के शिक्षकों और विद्यार्थियों को 'शिक्षा का महत्त्व' विषय पर सम्बोधित किया। तदुपरान्त ९।। बजे रात्रि को उक्त संस्था द्वारा आयोजित सार्वजनिक सभा के समक्ष 'कर्मरहस्य' विषय पर व्याख्यान दिया। १२ अक्तूबर को भिलाई में विवेकानन्द अध्ययन वर्ग के अन्तर्गत ९ वाँ भाषण हुआ। २३ अक्तूबर को मध्यप्रदेश माध्यमिक शिक्षक संघ के प्रथम सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए स्वामी जी ने 'शिक्षक संघ की कार्यप्रणाली कैसी हो' इस पर विशद विवेचन किया।

९ नवम्बर को दीपावली के शुभ पर्व पर पूज्यपाद स्वामी

वीरेश्वरानन्दजी महाराज के करकमलों द्वारा श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल भिलाई के भवन का शिलान्यास सम्पन्न। १८,१९ और २० नवम्बर को स्वामी आत्मानन्द इन्दौर में रहे। २७,२८ और २९ नवम्बर को उन्होंने मुजफ्फरपुर में श्री विरागी जी महाराज के संरक्षण में होनेवाले नौ दिवसीय आध्यात्मिक सम्मेलन में भाग लिया।

स्वामी विवेकानन्द जन्म-महोत्सव समारोह

इस समय स्वामी विवेकानन्द का १०८ वाँ जयन्ती-महोत्सव आश्रम के प्रांगण में २२ जनवरी से १५ फरवरी १९७० तक मनाया जायेगा। २२ से २९ जनवरी तक विभिन्न विद्यालयों, उच्चतर माध्यमिक शालाओं तथा महाविद्यालयों के छात्र-छात्राओं के लिए भाषण-प्रतियोगिता और वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि के कार्यक्रम रहेंगे। स्वामी विवेकानन्द की जन्मतिथि शुक्रवार, ३० जनवरी को पड़ रही है।

संक्षिप्त कार्यक्रम इस प्रकार है–

३० जनवरी, प्रातः ५॥ से ७ – प्रार्थना, भजन एवं ध्यान।

३० जनवरी, सुबह ९॥ से ११ – भजन-गीत एवं प्रार्थना।

३० जनवरी, सायंकाल ६॥ बजे – सार्वजनिक सभा (विषय : श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द)

३१ जनवरी, सायंकाल ६॥ बजे – विवेकानन्द गीति एवं गीत-रामायण प्रस्तुत कर्ता– डा. अरुण कुमार सेन एवं सहयोगी।

१ फरवरी, सायं ५॥ बजे – स्वर्ग में राष्ट्रनिर्माता सन्त-आत्माओं का सम्मेलन।

२ से ८ फरवरी, सायं ६॥ बजे – रामायण-प्रवचन (पं. रामकिंकर जी उपाध्याय द्वारा)

९ से १२ फरवरी, सायं ६॥ बजे – आध्यात्मिक प्रवचन-कीर्तन (श्री विरागी जी महाराज एवं अन्य महानुभाव द्वारा)

१३ से १५ फरवरी, सायं ६॥ बजे – कु सरोजबाला के प्रवचन।

सभी इन समस्त कार्यक्रमों में आप इष्ट-मित्रों सहित सादर आमंत्रित हैं।

रामकृष्ण मिशन समाचार

रामकृष्ण मठ और मिशन की कुल ११४ अधिकृत शाखाएँ समस्त विश्व में फैली हुई हैं। इनमें से ८५ शाखाएँ भारत के विभिन्न स्थानों में हैं जिनके अन्तर्गत २३ उपशाखाएँ भी हैं तथा २९ शाखाएँ विदेशों में हैं। आध्यात्मिक भाव-प्रसार के साथ साथ रामकृष्ण मिशन जनता-जनार्दन की अन्य क्षेत्रों में भी सेवा करता रहा है। वर्ष १९६७-६८ में औषधि, शिक्षा और तात्कालिक सहायता-कार्यों के क्षेत्र में जो सेवा की गयी, उसका विवरण निम्नलिखित है—

औषधि-क्षेत्र– मिशन के अन्तर्गत १० इन-डोर अस्पताल हैं जिनमें १,२०८ शय्या हैं। आलोच्य वर्ष में २५,७४० रोगियों का उपचार इन अस्पतालों में किया गया। इसी प्रकार ६६ आउट-डोर धर्मार्थ औषधालय हैं जहाँ ३०,३५,१४८ रोगियों को निःशुल्क दवा दी गयी। इनमें टी. बी. सेनाटोरियम और प्रसूति-गृह के सेवा-कार्य उल्लेखनीय हैं।

शिक्षा-क्षेत्र – ४ डिग्री कालेजों में ३,५७९ विद्यार्थी हैं। १ प्रि-यूनिवर्सिटी कालेज (२०० छात्र)। २ बी. टी. कालेज (२५३ छात्र)। २ बेसिक ट्रेनिंग स्कूल (२३४ छात्र)। १ पी. जी. बी. टी. कालेज (१११ छात्र)। ४ जूनियर बेसिक ट्रेनिंग कालेज (३०३ छात्र)। १ फिज़िकल एज्यूकेशन कालेज (१०७ छात्र)। १ रूरल हायर एज्यूकेशन सेंटर (२८८ छात्र)। १ स्कूल ऑफ

एग्रीकल्चर (१४४ छात्र)। १ एग्रीकल्चरल ट्रेनिंग सेंटर (८७ प्रशिक्षार्थी)। ४ इंजीनियरिंग स्कूल (१,५१९ छात्र)। १४ जूनियर टेकनिकल या आई. टी. आई. (७०० लड़के, ६४७ लड़कियाँ)। ९० विद्यार्थी भवन एवं अनाथालय (८,८८२ लड़के) एवं ९८३ लड़कियाँ)। ४ संस्कृत चतुष्पाठी (३८ छात्र)। १५ बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (६,६४४ लड़के, ४९३ लड़कियाँ)। ८ उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (३,१२६ लड़के, १,६५४ लड़कियाँ। १६ उच्च माध्यमिक विद्यालय (६,६३६ लड़के, ४,६२१ लड़कियाँ। ३६ सीनीयर बेसिक एवं एम. ई. स्कूल (४,७६४ लड़के ३,७५० लड़कियाँ)। ४५ जूनियर बेसिक, अपर प्राइमरी स्कूल (६८४६ लड़के, ३१७१ लड़कियाँ) १०१ लोअर प्रायमरी एवं अन्य स्कूल (५५८० लड़के) ३४००, लड़कियाँ। २ नर्स व मिडवाइफ ट्रेनिंग सेन्टर (२१२ प्रशिक्षार्थी)। १ अन्ध-विद्यालय ९५ अन्धे छात्र। इस प्रकार रामकृष्ण संघ के द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थानों में आलोच्य वर्ष में कुल ४९,४८६ लड़के और १९,४८६ लड़कियाँ थीं। इसके अतिरिक्त, कलकत्ते के इंस्टीटयूट ऑफ कल्चर ने ८०० विद्यार्थियों के लिए एक दिवा-छात्रावास (Day Hostel) संचालित किया तथा उसके सांस्कृतिक अध्ययन विभाग ने ९९ विद्यार्थियों को विभिन्न भारतीय भाषाओं की तथा १,२६४ विद्यार्थियों को विभिन्न विदेशी भाषाओं की शिक्षा प्रदान की।

सहायता-कार्य— आलोच्य वर्ष में बिहार, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल में दुर्भिक्ष और बाढ़-पीड़ितों के लिए मिशन ने जो सहायता-कार्य किये, उनमें कुल १५,९८,३११) की राशि व्यय हुई।

२,३९८ टन ७ क्विन्टल अनाज; ५४ टन ११ क्विन्टल ४२ किलो दूध-पाउडर; ९१,२९१ नई साड़ियाँ ओर धोतियाँ १७,

५०९ नये ब्लैंकेट तथा ५,००४ इनेमल बर्तन अकाल-पीड़ितों को बाँटे गये ।

★ जो व्यक्ति दूसरे की भलाई चाहता है उसने अपना भला पहले ही कर लिया ।

—कन्फ्यूशियस

★ आध्यात्मिक शक्ति भौतिक शक्ति से बढ़कर है; विचार ही संसार पर शासन करते हैं ।

—इमर्सन

फार्म ४ रूल ८ के अनुसार

'विवेक-ज्योति' विषयक ब्योरा

१. प्रकाशन का स्थान — रायपुर

२. प्रकाशन की नियतकालिता — त्रैमासिक

३-५. मुद्रक, प्रकाशक एवं सम्पादक — स्वामी आत्मानन्द

राष्ट्रीयता — भारतीय

पता — विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

६. स्वत्वाधिकारी — "रामकृष्ण मिशन, बेलुड़ मठ"

स्वामी वीरेश्वरानन्द, स्वामी निर्वाणानन्द, स्वामी ओंकारानन्द, स्वामी गंभीरानन्द, स्वामी भूतेशानन्द, स्वामी चिदात्मानन्द, स्वामी तेजसानन्द, स्वामी शान्तानन्द, स्वामी अभयानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी सम्बुद्धानन्द, स्वामी पवित्रानन्द, स्वामी शाम्भवानन्द, स्वामी भास्वरानन्द, स्वामी कैलासानन्द, स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी तपस्यानन्द, स्वामी आदिदेवानन्द, स्वामी गहनानन्द ।

मैं, स्वामी आत्मानन्द, घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं ।

(हस्ताक्षर) स्वामी आत्मानन्द

नवनिर्मित 'विवेकानन्द सत्संग भवन' ।